भारत, इंगलैंड और रूस
का
आर्थिक विकास

(Economic Development of India, England & Russia)

(Specially meant for 1st year Degree Arts
B A & B Com Students)



लेखक
गोपालकृष्ण गुप्ता एम ए, एम कॉम
प्राध्यापक अर्थशास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय कोटा



प्रकाशक
दी स्टूडेन्ट्स बुक कम्पनी
जयपुर जोधपुर
१९६०
मूल्य ४)

प्रकाशक :
दी स्टूडेन्ट्स बुक कम्पनी
जयपुर जोधपुर

४८०

निवेदन और आभार प्रदर्शन

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्व की परिस्थितियों में इतने परिवर्तन हुए हैं कि उन्हें एक रूप में क्रान्ति के वर्ग कहा जा सकता है। यहा हमें केवल आर्थिक क्षेत्र में हुई उथल-पुथल का ही अध्ययन करना है और इस क्षेत्र में भी हमारा ध्येय भारत, इंगलैंड और रूस के आर्थिक विकास पर ही प्रकाश डालना है, मुख्यकर भारतीय होने के नाते भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् हो रहे आर्थिक परिवर्तनों का दिग्दर्शन करना। प्रत्येक समझदार नागरिक को अपने देश की अर्थव्यवस्था का उचित व सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है, जिसमे वह देश की विभिन्न समस्याओं के समाधान मे अपना सहयोग देने में समर्थ हो सके। अधिकतर यह देखा जाता है कि देश की आर्थिक परिस्थितियों का समुचित ज्ञान न होने के कारण व्यक्ति अपने सङ्कुचित दृष्टिकोण अथवा राजनैतिक स्वार्थ सिद्ध करने के हेतु विचार करते हैं, जिससे सामान्य नागरिक को भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अपने देश की आर्थिक व्यवस्था तथा उसके साथ इंगलैंड तथा रूस जैसे उन्नत राष्ट्रों के अभूतपूर्व आर्थिक विकास की रूपरेखा देने का यह तुच्छ प्रयास है।

देश की शिक्षा प्रणाली मे सुधार के हेतु Three Year Degree Course के प्रारम्भ होने को एक महत्वपूर्ण कदम माना जा सकता है। गत वर्ष राजस्थान युनिवर्सिटी के द्वारा इस कोर्स के अन्तर्गत परीक्षा हुई। इस कोर्स के विद्यार्थियों को इस विषय मे किसी मान्यता प्राप्त तथा समुचित पुस्तक, जिसमे भारत, इंगलैंड और रूस तीनों देशों के आर्थिक विकास का वर्णन हो, के अभाव में अति कठिनाई का अनुभव हुआ। मैं इस विषय को पढाता हूँ अत विद्यार्थीगण के समान ही मुझे भी कुछ कठिनाई हुई और काफी परिश्रम करना पडा। गत वर्ष कुछ छात्रों ने क्लास में दिये गए लेक्चर्स को पुस्तक के रूप मे प्रकाशित करने का अनुरोध किया, जिससे आने वाले छात्रों को लाभ हो सके। परन्तु कुछ तो M. A. Classes के कार्य की अधिकता तथा कुछ बडे लेखको की अपेक्षा अपनी क्षुद्रता के कारण इस ओर अग्रसर होने का साहस न हुआ।

इस वर्ष भी वही समस्या और अधिक [illegible] छात्रों की संख्या मे वृद्धि के कारण और दूसरे एक दो पुस्तक जो भी प्रकाशित हुई उससे छात्रों को पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ और वे सदैव मेरे नोट्स को पुस्तक का रूप देने की प्रेरणा करते रहे।

मेरा यह प्रथम प्रयास है और आशा की जा सकती है कि विद्यार्थीवृन्द जिनकी प्रेरणा से यह पुस्तक लिखी गई है, इससे लाभान्वित होंगे और इस प्रका किसी समुचित पुस्तक के अभाव का अभियोग न लगा सकेंगे। अपने गुरुजनों का आभार प्रदर्शन करना मैं अपना प्रमुख कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने अर्थशास्त्र और सम्बन्धित मामलों में अपूर्व प्रेरणा प्रदान की थी। इनमें प्रमुख हैं Dr R. N. Bagchi M. A. Ph D. (Lon), Director of Eco-Industrial Survey Rajasthan, Dr. B. K. Tandon M A, B Com., Ph D Head of Econ. Deptt, Govt College, Beawar and Prof. S. C. Tela M. A, Head of Econ Deptt, Govt. College Ajmer अन्त में मैं Dr. R. P. Singh M. A', B. Com, Ph. D Vice-Principal & Head of Econ. Deptt., Govt. Gollege, Kotah का अत्यन्त आभारी हूं जिन्होंने मुझे इस ओर कार्य करने का अवसर प्रदान किया। अपने सहयोगी और आदरणीय Prof. M. L Gupta तथा R. S Sharma द्वारा भी समय समय पर दिये गए सुझावों का मैं कृतज्ञ हूं। अपने समस्त विद्यार्थियों का, जिन्होंने मुझे इस ओर कार्यरत करने की प्रेरणा दी, मैं आभारी हू। पाठकों से अनुरोध है कि पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने हेतु अपने बहुमूल्य सुझाव देने का कष्ट करें।

कोटा
१५–८–१९६०

विनीत
गोपालकृष्ण गुप्ता

विषय-सूची

प्रथम भाग

भारत का आर्थिक विकास

द्वितीय भाग

इंगलैंड का आर्थिक विकास

तृतीय भाग

रूस का आर्थिक विकास

अध्याय

प्रथम भाग

अध्याय १—१५

भारत का आर्थिक विकास

अध्याय

अध्याय १

परिचय

वर्तमान समय में अर्थशास्त्र का अध्ययन विशेष आवश्यक समझा जाता है । अब अर्थशास्त्र केवल एक सैद्धान्तिक विषय के रूप में ही नहीं, अपितु व्यावहारिक रूप में भी महत्वपूर्ण माना जाता है । किसी देश की वास्तविक उन्नति हम उसकी आर्थिक समस्याओं के अध्ययन द्वारा जान सकते हैं । इस पुस्तक के इस खण्ड में भारत के आर्थिक विकास का वर्णन किया गया है । इस प्रकार के अध्ययन को बहुधा 'भारतीय अर्थशास्त्र' (Indian Economics) का नाम दिया जाता है । वास्तव में यह नाम ठीक नहीं है क्योंकि भारतीय अर्थशास्त्र में अर्थशास्त्र के नए सिद्धान्तों की विवेचना न कर अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों को ही भारतीय आर्थिक स्थिति की पृष्ठभूमि में लागू किया गया है । भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि में भारत का आर्थिक जीवन किस प्रकार विकसित होता गया उसकी आर्थिक समस्याएं तथा उनको हल करने के उपाय एवं योजनाओं के अध्ययन को हम भारत का आर्थिक विकास कह सकते हैं ।

कुछ व्यक्ति इस अध्ययन से भारतीय आर्थिक विचारधारा के विकास का अर्थ समझें, परन्तु भारत में जीवन के आर्थिक क्षेत्र का महत्व नगण्य सा ही रहा है, अत कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पश्चात इस विषय पर भारतीय विचारधारा नहीं के बराबर है, और विज्ञान के विकास में हमारा कोई विशेष भाग नहीं है । इस प्रकार 'भारतीय अर्थशास्त्र' के स्थान पर 'भारतीय अर्थव्यवस्था' शब्द का प्रयोग अधिक उचित होगा ।

इस अध्ययन के अन्तर्गत हम देश की भौगोलिक स्थिति प्राकृतिक सम्पदा, सामाजिक समस्याएं, जनसंख्या, कृषि, उद्योग आदि समस्याओं का विधिवत् अध्ययन करते हैं । अत अर्थव्यवस्था का क्षेत्र बहुत विस्तृत है इसके अन्तर्गत देश की समस्त आर्थिक समस्याओं का अध्ययन होता है ।

इस प्रकार का अध्ययन किसी भी व्यक्ति के लिए अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि इसके द्वारा उसको उसकी निर्धनता के कारण, जीवनस्तर को उच्च करने तथा देश की धार्मिक स्थिति में सुधार करने का समुचित ज्ञान हो जाता है । इसके अतिरिक्त अपने देश की आर्थिक स्थिति की तुलना इंग्लैण्ड, रूस आदि विकसित देशों के साथ भी की जा सकती है, जिससे हमें पथ-प्रदर्शन व प्रेरणा मिल सकती है । आज देश के सम्मुख उत्पादन में निरन्तर वृद्धि, राष्ट्रीय आय का उचित वितरण व जीवनस्तर को ऊंचा उठाने के ध्येय हैं, जिनको पूरा करने के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था का ज्ञान होना अनिवार्य है ।

भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं:—

१. प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता के साथ निर्धनता:—भारत के प्राकृतिक साधनों में उपजाऊ भूमि, विविध जलवायु, खनिज पदार्थ व शक्ति के साधन सम्मिलित हैं। इन प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग नहीं किया गया। परिणामस्वरूप देश में निर्धनता का राज्य है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार इस ओर प्रयत्न कर रही है और इसमें हमें सफलता भी मिल रही है।

२. बड़ी जनसंख्या:—१९५१ की जनगणनानुसार भारत की कुल जनसंख्या ३६.२ करोड़ है। इतनी बड़ी जनसंख्या के बेरोजगारी, निम्न जीवनस्तर, प्रति व्यक्ति कम आय तथा कम जीवन अवधि अवश्यम्भावी परिणाम हैं।

३. असंतुलित तथा अव्यवस्थित अर्थव्यवस्था:—कुल जनसंख्या का लगभग ६७% भाग कृषि में लगा हुआ है, जिससे भूमि पर बहुत अधिक भार है। खेत छोटे छोटे और छिटके हुए हैं और प्रति एकड़ उत्पादन बहुत कम है।

४. यातायात के साधनों की कमी:—मुख्यतः गांवों में सड़क यातायात की अत्यन्त शोचनीय दशा है। भारत के आर्थिक विकास में ग्रामों का विकास प्रमुख महत्व रखता है। गांवों की उपज मण्डियों तक सुगमतापूर्वक ले जाने के समुचित साधन सुलभ होना आवश्यक है।

५. धार्मिक व सामाजिक प्रवृत्तियां:—देश के आर्थिक विकास के मार्ग में सामाजिक रीति-रिवाज तथा धर्म बाधक रहा है। जातिप्रथा, उत्तराधिकार के नियम, भाग्यवादिता आदि। अतः प्रगतिशील अर्थव्यवस्था की स्थापना करना आवश्यक है।

६. आय की असमानता:—सम्पत्ति का वितरण अनुचित है और प्रति व्यक्ति की आय बहुत कम है।

७ कुशल श्रम, यान्त्रिक ज्ञान व पूंजी का अभाव:—श्रम की पूर्ति तो अधिक है परन्तु श्रमिकों में कार्यक्षमता की कमी है क्योंकि औद्योगिक शिक्षा की सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं। कुशल इन्जीनियरों तथा विशेषज्ञों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। पूंजी की कमी के कारण खेती का यन्त्रीकरण सम्भव नहीं हो पाया तथा उद्योगों का भी आधुनिकीकरण नहीं हो सका है।

देश के स्वतन्त्र होने के बाद से अर्थव्यवस्था में अभूतपूर्व परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। 'कल्याणकारी राज्य' के लक्ष्य को निर्धारित कर तथा सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तृत कर सरकार प्रगतिशील समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना की ओर अग्रसर है। इस ध्येय की प्राप्ति के हेतु पंचवर्षीय योजनाओं ने नया रक्त-संचार करना आरम्भ कर दिया है। इन सब बातों का अध्ययन आगे के अध्यायों में किया गया है।

---

(३) दक्षिणी पठारी प्रदेश :—इसका आकार त्रिकोण है। इसके पूर्व और पश्चिम में पूर्वी घाट और पश्चिमी घाट तथा उत्तर में विन्ध्याचल पर्वत हैं। यह प्रदेश पठारी है तथा इसमें नर्मदा, ताप्ती, महानदी, कृष्णा, गोदावरी और कावेरी नदियां बहती हैं। ये नदियां यातायात तथा सिंचाई के लिए अनुपयुक्त हैं। यहां वर्षा कम होती है, परन्तु काली मिट्टी पाये जाने के कारण कपास अधिक होती है। कपास के अतिरिक्त यहां तिलहन, बाजरा, तम्बाकू, चावल आदि उत्पन्न होते हैं।

जलवायु

भारत की जलवायु मुख्यतः मानसूनी और उष्ण कटिबन्धीय है। भारत के विभिन्न भागों में जलवायु भी भिन्न भिन्न है। उत्तरी भारत तथा पहाड़ियों पर जलवायु ठण्डा है, मैदानों में गर्म और शुष्क और दक्षिण-पश्चिम में गर्म और नम है। भारत में तीन ऋतुएं प्रधान हैं :—

(१) शीत ऋतु—अक्टूबर से फरवरी तक।

(२) ग्रीष्म ऋतु—मार्च से जून तक।

(३) वर्षा ऋतु—जुलाई से सितम्बर तक।

विविध जलवायु का देश की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है।

(१) विभिन्न फसलें :—विभिन्न भागों में भिन्न जलवायु के कारण यहां विविध प्रकार की फसलें उगती हैं। विभिन्न वनों में भी विभिन्न प्रकार की लकड़ी पाई जाती है।

(२) कृषि की महत्ता :—भारत की उर्वर भूमि एवं अनुकूल जलवायु के कारण लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है।

(३) रहन-सहन :—भारतीय जलवायु मनुष्य की कम से कम आवश्यकताओं की ओर प्रेरित करती है—खान-पान, कपड़े और आवास व्यवस्था में भारतीय को अधिक चिन्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती। लोगों में सन्तोष की भावना प्रबल है।

(४) कार्यक्षमता :—भारतीय जलवायु लोगों को आलसी बनाती तथा निरुत्साहित करती है, जिससे भारतीय श्रमिक का कार्यकौशल निम्न कोटि का है।

हमें जलवायु के प्रभाव को अतिशयोक्ति न देनी चाहिए और इसको अपनी आर्थिक अवनति का कारण न मानना चाहिए, क्योंकि इन विषमताओं के होते हुए भी प्राचीन काल में हमने अभूतपूर्व प्रगति की थी। देश का कार्यकौशल, वैभव, ज्ञान अनुकरणीय था।

वर्षा :—भारत के कृषिप्रधान देश होने के कारण वर्षा का उचित मात्रा में होना तथा समान वितरण आवश्यक है। वर्षा के समय पर तथा उचित मात्रा में न होने से किसानों को ही नहीं, अपितु व्यापार, उद्योग और सरकार को भी भारी क्षति होती है। भारत के भूतपूर्व वित्त सचिव ने भारतीय बजट को वर्षा पर निर्भर जुआ (A gamble in Rains) बताया था, जो कि वास्तव में सत्य है।

भारत में वर्षा कुछ निश्चित मार्गों में ही होती है। वर्षा करने वाली हवाओं को मानसूनी अथवा मौसमी हवायें कहते हैं। मानसूनी हवायें दो होती हैं :—

(२) लैटराइट मिट्टी—यह मिट्टी मध्य प्रदेश, असम, उड़ीसा के कुछ भाग तथा पूर्वी और पश्चिमी घाटों के समुद्रतट पर पाई जाती है। यह बहुत कम उपजाऊ है। यह चाय, कहवा, नारियल आदि के लिए उपयुक्त है।

(३) काली मिट्टी—यह ज्वालामुखी पहाड़ के विस्फोट (लावे) से बनी है। वर्षा के पानी को रोक रखने की क्षमता के कारण यह कपास के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। कपास के अतिरिक्त इसमें ज्वार, बाजरा, गेहूं व दालें भी उगाई जाती हैं। यह बम्बई, मध्य प्रदेश और आंध्र में पाई जाती हैं।

(४) लाल मिट्टी—यह मध्यम श्रेणी की है। यह मद्रास, मैसूर, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा दक्षिण बंगाल में मिलती हैं।

भूमि-क्षरण

मिट्टी के ऊपरी उपजाऊ कणों का पानी द्वारा बह जाने अथवा हवा द्वारा उड़ जाने से भूमि की जो क्षति होती है, उसे मिट्टी का कटाव या भूमि का क्षरण कहते हैं।

भारत में भूमि-क्षरण तीन प्रकार से होता है:—

(१) समान कटाव—पानी द्वारा सारी भूमि की ऊपरी उर्वर मिट्टी बहने और नीचे की भूमि समान किन्तु बेकार रहने को एक सा कटाव कहते हैं।

(२) कछारदार कटाव—तेज वर्षा अथवा बाढ़ के कारण भूमि में गहरे गड्ढे अथवा कछार बन जाते हैं, भूमि जगह जगह कट जाती है। इसे कछारदार कटाव कहते हैं।

(३) वायु से कटाव—सूखे भागों में जब वायु बड़े वेग से चलती है तो यह अपने साथ मिट्टी के ऊपरी परत के कणों को उड़ा ले जाती है।

भूमि-कटाव के कारण

(१) वनों का विनाश:—आंधी और पानी की शक्तियों द्वारा मिट्टी को उड़ा या बहा ले जाने से वन भूमि की रक्षा करते हैं। पहाड़ी ढलानों से वनस्पति के नष्ट होने से वर्षा के पानी द्वारा भूमि के मूल्यवान तत्व नष्ट हो जाते हैं। वृक्षों से आंधियों की शक्ति कम होती है, परन्तु आंधी से रेतीली मिट्टी उड़ने लगती है। इस प्रकार राजस्थान का मरुस्थल पिछले ५० वर्षों से लगभग आधा मील प्रति वर्ष की गति से फैलता जा रहा है।

(२) कृषि के दोषपूर्ण तरीके—खेतों पर प्रचलित भूमि उपयोग के दोषपूर्ण तरीकों से भी मिट्टी का कटाव होता है। ढलावदार जमीन पर समानान्तर हल जोतना, फसलों का उचित हेरफेर आदि उपायों का प्रयोग न करना भी मिट्टी के कटाव का कारण है।

मिट्टी-कटाव का उपचार

मिट्टी-कटाव को नियन्त्रित करने और भूमि की उत्पादन-क्षमता पुनः लाने के

भारत के प्राकृतिक साधनों में वन-सम्पत्ति का अधिक महत्व है। यहां वनों का कुल क्षेत्रफल २.८१ लाख वर्ग मील है, जो समस्त भारत के क्षेत्रफल का २२% है। राष्ट्रीय वन नीति (१९५२) के अनुसार भारत में कुल भू-क्षेत्र का १/३ भाग वनों से आच्छादित होना चाहिए। हमारे वनों का क्षेत्र आवश्यकता से कम है इसके साथ ही वनों का विभिन्न राज्यों में वितरण भी असमान है।

वनों के प्रकार

देश में विभिन्न जलवायु, भूमि तथा अन्य तत्वों के कारण विविध प्रकार के वन पाए जाते हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं —

(१) सदाबहार वन — ये हिमालय व पश्चिमी घाट पर जहां वर्षा ८० इंच से अधिक होती है, पाये जाते हैं। ये वन बहुत ही घने और विशाल होते हैं। इन वनों की सघनता के कारण यातायात की कठिनाई होती है, अतः इनकी व्यावसायिक उपयोगिता कम होती है। इन वनों के मुख्य वृक्ष ताड़, बांस, बेंत, महोगनी, सिनकोना, फर्न आदि हैं।

(२) पतझड़ वाले वन — इनकी पत्तियां झड़कर नये सिरे से आती हैं। ये वन उन प्रदेशों में पाये जाते हैं, जहां वार्षिक वर्षा ४० इंच से ८० इंच के बीच में होती है। ऐसे प्रदेश हिमालय के निचले भाग, बंगाल, बिहार, उड़ीसा आदि हैं। इन वनों के मुख्य वृक्ष हैं- सागौन, साल, शीशम आदि। ये वन सदाबहार वनों की भांति घने नहीं होते तथा इनके वृक्षों की लकड़ी उपयोगी होती है।

(३) पर्वतीय वन — यह हिमालय पर वर्षा होने के कारण भिन्न-भिन्न ऊंचाई पर अलग-अलग प्रकार के पाये जाते हैं, जैसे- देवदार, पाइन, श्वेत सनोवार तथा ओक आदि।

(४) समुद्रतटीय वन:—ये वन समुद्र और नदियों के डेल्टाई प्रदेशों में हैं। इनमें गंगा के सुन्दर वन प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा ताड़, नारियल आदि के वृक्ष हैं। इन वनों में पाई जाने वाली लकड़ी ईंधन के काम आती है और छाल चमड़ा रंगने के काम आती है। इनसे नाव भी बनाई जाती है।

(५) शुष्क प्रदेश के वन — ये वन सूखे प्रदेश जहां २० इंच से भी कम वर्षा होती है, पाये जाते हैं, जैसे राजस्थान, दक्षिणी पंजाब, मध्य प्रदेश आदि। इनमें मुख्य वृक्ष हैं—बबूल, करील, कांटेदार झाड़ियां आदि। इन वृक्षों की छाल चमड़ा रंगने और लकड़ी हल, बैलगाड़ी आदि बनाने के काम आती है।

वनों का आर्थिक महत्व

वन प्रकृति की देन हैं और इस प्रकार बहुमूल्य सम्पत्ति है। वनों के लाभों को दो भागों में बांट सकते हैं —(१) प्रत्यक्ष लाभ और (२) अप्रत्यक्ष लाभ।

(३) वे वन, जो साधारण लकड़ी, ईंधन व चारा आदि देते हैं।

(४) चरागाह अर्थात् पशु चराने के स्थान, जो केवल नाममात्र में ही वन हैं, वास्तव में नहीं।

यह नीति यद्यपि उपयुक्त जान पड़ती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से दोषपूर्ण है।

(१) इस नीति के अनुसार स्थायी खेती के लिए वनों को नष्ट किया गया, जिससे स्थानीय लोगों को इमारती लकड़ी और ईंधन की कमी हुई और गोबर जैसी खाद को जलाने लगे। इसके अतिरिक्त भूमि-क्षरण के विरुद्ध कोई उपाय न रहा।

(२) स्थानीय जनसंख्या को वन की उपज पर अधिक अधिकार दिये गये जो राष्ट्र-हित में नहीं थे।

(३) इस वन-नीति में कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को सम्मिलित नहीं किया गया, जो एक समुचित नीति में होना आवश्यक है। वे निम्नलिखित हैं:—

(i) वन क्षेत्र को बढ़ाने के उपाय नहीं बताये गये।

(ii) इस बात का उल्लेख नहीं किया गया कि वनों से सदा ही निश्चित उपज तथा आय प्राप्त हो।

(iii) वन्य जीवन की रक्षा, वनों के प्रबन्ध व नियन्त्रण, वन शिक्षा तथा वन-अन्वेषण की व्यवस्था के लिए कुछ नहीं कहा गया।

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए उचित नई वन नीति की घोषणा मई, १९५२ में की गई। अब यह माना जाने लगा कि वन कृषि की केवल दासी नहीं, परन्तु उसके अनिवार्य मित्र और उपमाता हैं तथा कृषि-भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए आवश्यक हैं। वनों की महत्ता को दृष्टिकोण में रखकर जून, १९५० में श्री के. एम. मुन्शी द्वारा 'वन-महोत्सव' अथवा 'अधिक वृक्ष उगाओ' आन्दोलन आरम्भ किया। श्री मुन्शी के शब्दों में "वन महोत्सव कवि-कल्पना की उपज नहीं है, यह चमत्कारी उत्सव नहीं है, यह भूमि के रूप-परिवर्तन में अत्यन्त प्रभावपूर्ण कदम है। वन महोत्सव युवकों का उत्सव है, भविष्य का उत्सव है, आशा का उत्सव है।"

१९५२ की नई नीति में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया :—

(१) देसी पद्धति का विकास किया जाय, जिससे हर प्रकार की भूमि उस प्रयोग में लाई जाय जिसमें वह अधिकतम उत्पादन करे और कम से कम भूमि का अपव्यय हो।

(२) निम्नलिखित को रोकने के लिए विशेष ध्यान देना :—

(i) पर्वतीय वनों के विनाश को रोकना, क्योंकि इससे नदियों को सदा पानी मिलता है और नदी क्षेत्र ही सबसे अधिक उपजाऊ होते हैं।

(ii) बड़ी नदियों के वृक्षहीन किनारों की भूमि का जो कटाव होता जा रहा है और जिससे आसपास की भूमि की उर्वरता नष्ट होती जा रही है, उसको रोकना।

(iii) समुद्री रेत तटों की ओर बढ़ती आ रही है, जिससे राजस्थान के मरुस्थल में बालू के टीले बनते जा रहे हैं, उनका निवारण करना।

(iv) देश की जलवायु तथा प्राकृतिक अवस्थाओं में सुधार के लिए जहाँ सम्भव हो वृक्ष लगाये जायें।

(v) चरागाह तथा कृषि-औजारों की लकड़ी की उचित व्यवस्था करना। ईंधन की लकड़ी का विशेष रूप से प्रबन्ध करना, जिससे गोबर का खाद के लिए प्रयोग किया जा सके और खाद्य-उत्पत्ति में वृद्धि हो।

(vi) सुरक्षा, यातायात तथा उद्योग के लिए लकड़ी तथा अन्य वन की उपजों की पूर्ति का प्रबन्ध करना।

(vii) उपर्युक्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अधिकतम वार्षिक आय की प्राप्ति करना।

वनों का वर्गीकरण

वनों को निम्नलिखित चार वर्गों में बांटा जा सकता है :—

(i) सुरक्षित वन :—जो पूर्ण रूप से राज्य के अधिकार में हैं और जिन्हें जलवायु तथा प्राकृतिक दृष्टिकोण से लगाना आवश्यक है। इनमें से केवल पुराने वृक्ष ही काटे जा सकते हैं।

(ii) रक्षित वन :—ये वे वन हैं, जिनसे टीक, साल तथा अन्य व्यावसायिक पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसका संगठन व प्रबन्ध राज्य सरकारों द्वारा होता है।

(iii) असुरक्षित सामान्य वन :—जिनको ईंधन के वन भी कहते हैं। इनसे आसपास के गांवों को जलाने की लकड़ी, कृषि-औजार बनाने की लकड़ी, पशुओं का चारा आदि मिलते हैं। इन वनों का प्रबन्ध इस उद्देश्य से होना चाहिये कि ये स्थानीय जन-संख्या की वर्तमान तथा भावी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

(iv) वृक्षभूमि :—ये क्षेत्र नियमित वनों के अंग नहीं हैं, परन्तु देश की प्राकृतिक दशाओं को सुधारने के लिए यह आवश्यकता है कि लोगों को वृक्षों के बारे में सचेत बनाया जाय और ग्रामीण क्षेत्रों में वृक्षभूमि को बढ़ाया जाय।

इस प्रकार के वर्गीकरण का उद्देश्य वनों के असयत उपयोग व अत्यधिक कटाव को रोकना है तथा उनके उत्पादन में वृद्धि करना है। वन अधिकारियों की शिक्षा के लिए वन अन्वेषण संस्था तथा महाविद्यालय देहरादून और कोयम्बटूर का प्रबन्ध है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में वन

इस योजना में वनों पर कुल ११.७ करोड़ रु० (२ करोड़ रु० केन्द्र द्वारा तथा ६.७ करोड़ रु० राज्यों द्वारा) व्यय का अनुमान था। मुख्य कार्यक्रम निम्नलिखित निर्धारित किये गये :—

(१) वन क्षेत्र में वृद्धि करने के लिए बेकार भूमि तथा नहरों और सड़कों के किनारे वृक्ष लगाये जायेंगे।

(२) औद्योगिक महत्व वाले वनों को विशेष रूप से लगाया जायगा; जैसे सागौन, दियासलाई की लकड़ी के वृक्ष आदि।

(३) वनों के प्रदेशों में यातायात के साधन सुलभ किये जायेंगे, जिससे लकड़ी सुगमतापूर्वक निकाली जा सके।

(४) केन्द्रीय वन समस्त राज्य यह बताए कि प्रत्येक राज्य में वनों के नीचे कितना क्षेत्रफल होना चाहिये। वन उसी समय काटने की आज्ञा देनी चाहिए, जब वे आवश्यकता से अधिक हों या काटे गए क्षेत्र के बराबर नये क्षेत्र पर वन लगाए जा सकें।

(५) जमींदारी की समाप्ति के पश्चात् जो राज्य सरकारों के पास ४ करोड़ एकड़ भूमि आ गई है, उसमें अधिकतम भूमि पर वनों का पुनःस्थापन किया जाय।

(६) युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति बढ़ाने के लिए अधिक काटे गए वनों को फिर से लगाना चाहिए।

(७) जिन स्थानों पर मिट्टी-कटाव अधिक है वहां वृक्ष लगाये जायें।

(८) लकड़ी की पूर्ति बढ़ाने के लिए काम में न आने वाली लकड़ियों का रासायनिक ढंग से शोधन किया जाय।

(९) विभिन्न गांवों में उद्यानों का विकास किया जाय।

(१०) राज्यों की नीतियों में सामञ्जस्य करने के लिए राज्य सरकार को प्रतिवर्ष अपनी योजना वनों के महानिरीक्षक के पास भेजनी चाहिए तथा समय समय पर राज्यों के अधिकारियों का सम्मेलन बुलाना चाहिए।

इस योजनाकाल में ७५,००० एकड़ भूमि पर नये वन लगाये गए तथा ३,००० एकड़ प्रतिवर्ष की दर से दियासलाई की लकड़ी के पेड़ लगाए गए और ३,००० मील लम्बी वन की सड़कों को बनाया गया। २ करोड़ एकड़ से भी अधिक वनभूमि को सरकार ने अपने नियन्त्रण में लिया। राजस्थान के रेत को आगे बढ़ने से रोकने के लिए सन् १९५२ में एक मरुस्थल वनारोपण तथा शोध केन्द्र जोधपुर में खोला गया।

द्वितीय योजना में वन कार्यक्रम

वन विकास के लिए कुल २७ करोड़ ५० रुपये गए, जिसमें निम्न कार्यक्रम सम्मिलित किए गये :—

(१) ३ ८० लाख एकड़ पर के वनों का पुनःस्थापन किया जायगा, जिससे वन-क्षेत्र में वृद्धि होगी।

(२) व्यापारिक महत्व के वनों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जायगा। ५०,०००

एकड़ पर टीक आदि के वृक्ष, १३,००० एकड़ पर नीला गोंद आदि तथा ५०,००० एकड़ पर दियासलाई की लकड़ी के वृक्ष उगाये जायेंगे।

(३) वनों की सड़कों को उन्नत करने तथा इमारती लकड़ी को अच्छे ढंग से प्राप्त करने के प्रयत्न किए जायेंगे।

(४) वन-सम्पत्ति के विकास व नियोजन के लिए वनों का सर्वेक्षण करके आवश्यक आंकड़े एकत्र किए जायेंगे।

(५) वन्य जीवन की सुरक्षा के लिये १८ राष्ट्रीय पार्क तथा दिल्ली में एक चिड़िया-घर खोला जायगा।

(६) वन अन्वेषण का कार्य बढ़ाया जायगा।

(७) वन शिक्षा देने की अधिक सुविधाएं प्रदान की जायेंगी।

(८) वन के कर्मचारियों तथा श्रमिकों की दशाओं को सुधारने के लिए प्रयत्न किये जायेंगे।

(९) वनों के कुछ छोटे उत्पादन, जैसे जड़ी बूटियों के उत्पादन में वृद्धि की जायगी।

(१०) राज्यों की वन योजनाओं में समन्वय स्थापित करना केन्द्र का काम होगा।

भारत में खनिज

औद्योगिक विकास के लिए खनिज-सम्पदा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। भारत की खनिज सम्पत्ति का अभी पूरा सर्वेक्षण नहीं हो सका है। वाणिज्य की दृष्टि से खनिज पदार्थों का तीन वर्गों में अध्ययन किया जा सकता है।

(१) ऐसे खनिज जो निर्यात की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, जैसे अभ्रक, मैंगनीज कच्चा लोहा, मैगनेसाइट, लाक, जिप्सम आदि।

(२) ऐसे खनिज जो देश की आवश्यकता को देखते हुए पर्याप्त हैं, जैसे कोयला, नमक, ब्वाक्साइट, ग्रेफाइट, बेरियम आदि।

(३) ऐसे खनिज जिनका आयात करने की आवश्यकता है, जैसे तेल, तांबा, शीशा, जस्ता, टीन, गंधक, चीनी, मिट्टी, निकिल आदि।

भारत के मुख्य खनिज पदार्थ

(१) लोहा—किसी भी देश के औद्योगिक विकास की आधारशिला लोहा है। कच्चे लोहे की अच्छी किस्म तथा कोयला खानों की निकटता के कारण भारत बहुत कम लागत पर लोहा बना सकता है भारत के कुछ लोहे के भण्डार तो संसार भर में श्रेष्ठ समझे जाते हैं। इनमें ६० से ७०% तक धातु रहती है और फासफोरस तथा गंधक कम होते हैं। भारत में कच्चे लोहे की एशिया भर की सबसे बड़ी खान है। अनुमान है कि भारत की खानों में लगभग २१०० करोड़ टन लोहा विद्यमान है, जो कि संसार के कुल लोहे के भण्डार का एक-चौथाई है।

वितरण:— भारत में अच्छा लोहा बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, मद्रास, बम्बई तथा मैसूर में पाया जाता है। इससे अधिक लोहा बंगाल, बिहार और उड़ीसा से प्राप्त किया जाता है। सिंहभूमि, क्योंझार, बोनाई, मयूरभंज, बंगाल, मैसूर में लोहे के अटूट भण्डार हैं। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे लोह भण्डार उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा, आंध्र के कुरनूल और दक्षिणी भारत के भागों में मिलते हैं।

भारत में कच्चे लोहे का औसत वार्षिक उत्पादन ३५ लाख टन है। द्वितीय योजना में कच्चे लोहे का उत्पादन १९६०–६१ में १२५ लाख टन हो जायगा, जिसमें से २० लाख टन निर्यात हो सकेगा। अभी तक भारत में विश्व का १%, फ्रांस का १/१० तथा अमेरिका का १/५० कच्चा लोहा उत्पन्न होता है।

(२) मैंगनीज:— यह एक बहुत ही बहुमूल्य धातु है, जो फौलाद बनाने, रासायनिक पदार्थों, प्लास्टिक, वार्निश और शुष्क बैट्री आदि में काम देता है। इस कारण ही इसको Jack of all trades (हरफन मौला) सब व्यवसायों का सहायक कहते हैं।

यह मुख्यकर मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा नागपुर, बालाघाट और भंडारा जिलों में आंध्र के विशाखापट्टम, बम्बई के कुछ भागों में, मैसूर, मद्रास, बिहार और उड़ीसा में मिलता है। सबसे अच्छी किस्म मध्य प्रदेश में पाई जाती है, जहां देश के कुल उत्पादन का ७०% भाग निकाला जाता है। रूस और गोल्डकोस्ट के बाद मैंगनीज उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का स्थान है।

संसार के कुल उत्पादन का २०% भाग भारत में उत्पन्न होता है, किन्तु अधिक भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। वास्तव में विदेशी विनिमय को प्राप्त करने का यह प्रमुख साधन है। द्वितीय योजना के अनुसार सन् १९६०–६१ में २० लाख टन मैंगनीज निकाला जायगा, जिसमें से १४ लाख टन निर्यात कर दिया जायगा। लोहा, इस्पात तथा अन्य उद्योगों का देश में विकास होने से इसकी घरेलू मांग अवश्य बढ़ जायगी।

(३) अभ्रक:— यह भी बहुत ही उपयोगी खनिज पदार्थ है जिसका उपयोग मुख्यकर बिजली के उद्योगों तथा तार, टेलीफोन, बेतार के तार, रेडियो, वायुयान, रोगन, कागज, तेल व रबर उद्योगों में किया जाता है।

भारत में दुनिया के सब देशों से अधिक अभ्रक उत्पन्न होती है और विश्व की ७० से ८०% आवश्यकता की पूर्ति होती है। यह मुख्यतः बिहार में हजारीबाग व आंध्र में नैलोर में पाया जाता है। केवल बिहार में ही कुल उत्पादन का ६०% भाग निकाला जाता है। इसके अतिरिक्त यह अजमेर, मारवाड़, ट्रावनकोर, मैसूर आदि में भी उपलब्ध होता है। देश के उत्पादन का लगभग सम्पूर्ण भाग निर्यात कर दिया जाता है। द्वितीय योजना में उत्पादन का लक्ष्य २ लाख हण्डरवेट रखा गया है।

(४) स्वावसाइट — यह अल्यूमीनियम बनाने के काम आता है, जिसे वर्तमान युग की अद्‌भुत धातु मानी जाती है। यह विशेषकर वायुयान उद्योग में बहुत उपयोगी है। इसके अतिरिक्त पेट्रोल साफ करने तथा विशेष प्रकार की सीमेण्ट तैयार करने में भी आवश्यक होता है।

भारत में यह बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, मद्रास, बम्बई, आसम आदि स्थानों में पाया जाता है। इसका कुल अनुमान २५ करोड़ टन है, जिसमें से अच्छे प्रकार की धातु केवल ३५ करोड़ टन के बराबर है।

(५) जिप्सम:— देश के औद्योगिक विकास में लोहे और कोयले के बाद इसका स्थान है। इसका उपयोग सीमेण्ट व खाद बनाने के काम आता है।

भारत में यह मुख्यत राजस्थान, सौराष्ट्र कच्छ तथा मद्रास और थोड़ी मात्रा मे हिमाचल प्रदेश तथा काश्मीर में मिलता है। इस प्रकार देश के कुल भण्डारों का अनुमान १२०० मिलियन टन के लगभग है। द्वितीय पचवर्षीय योजना में १८६ लाख टन जिप्सम प्राप्त करने की योजना है। देश में सीमेंट और सिंदरी के खाद के कारखाने के खुलने के साथ साथ जिप्सम की माग फिर बढ रही है तथा भविष्य में और बढने की आशा है।

(६) क्रोमाइट — यह खनिज युद्ध के काम आने के कारण एक महत्वपूर्ण धातु हो गया है। इसके अतिरिक्त विमान तथा मोटरगाड़ियों में भी इसका उपयोग होता है। यह मुख्यकर बिहार, मैसूर, बम्बई, मद्रास और उडीसा में पाई जाती है। इसका कुल भण्डार १३२ लाख टन है।

(७) सोना:—यह बहुमूल्य धातु मुद्रा और आभूषणों के लिए प्रयोग की जाती है। भारत में सोना बहुत कम होता है। यह केवल मैसूर राज्य के कोलार क्षेत्र में पाया जाता है। कुछ मात्रा में आन्ध्र तथा बम्बई में भी निकाला जाता है। मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा आसम में रेत से भी सोना प्राप्त किया जाता है। सन् १९५७ में लगभग १७० हजार औंस सोना निकाला गया।

(८) थोरियम —यह एटम शक्ति उत्पन्न करने के प्रयोग में आता है और भारत के केवल केरल राज्य में बड़ी मात्रा में मिलता है।

(९) नमक:—हमारे नमक के साधन पर्याप्त हैं। समुद्रतटीय राज्यों-जैसे बम्बई, मद्रास, केरल, आन्ध्र आदि में समुद्र के पानी को सुखाकर नमक बनाया जाता है। इस प्रकार ७०% नमक इस ही साधन से प्राप्त होता है। देश के आन्तरिक भागों में मुख्यकर राजस्थान में साम्भर जैसी खारी झीलों के पानी से नमक बनाया जाता है। हिमाचल प्रदेश के मण्डी स्थान पर पहाड़ी सेंधा नमक बहुत कम मात्रा में निकलता है। इस नमक का मुख्य स्रोत पाकिस्तान में है।

(१०) ताबा, सीसा, जस्ता, टीन, निकिल आदि — ताबा—इसकी खानें मुख्यकर बिहार के सिंहभूमि स्थान पर हैं जहा ताम्र पट्टी ८० मील तक फैली हुई है। थोड़ी मात्रा में

(६) कुछ महत्वपूर्ण खनिजों को जो निर्यात के लिए निकाले जाते हैं, उनको तैयार अथवा अर्ध-तैयार अवस्था में बाहर भेजना।

(७) निम्न प्रकार के खनिज पदार्थों का अन्वेषण करके ज्ञान प्राप्त करना।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर सन् १९५२ में राष्ट्रीय खनिज नीति की घोषणा की गई।

प्रथम योजना के अन्तर्गत महत्वपूर्ण खनिज पदार्थों के बारे में सर्वेक्षण करने के लिए १ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई, जिसको बाद में २.५ करोड़ रु० तक बढ़ा दिया गया। द्वितीय योजना में औद्योगीकरण पर विशेष महत्व देने का कारण खनिज विकास पर ७३ करोड़ रु० व्यय करने का अनुमान किया गया।

शक्ति के साधन

औद्योगिक विकास और आर्थिक उन्नति के लिए शक्ति के साधनों का प्रचुर मात्रा में होना आवश्यक है। शक्ति के विभिन्न साधन हैं—मनुष्य, पशु, वायु, लकड़ी, कोयला, पैट्रोलियम तथा जल, परमाणु शक्ति तथा सूर्य शक्ति आदि।

मनुष्य व पशु शक्ति के बारे में आगे वर्णन किया जायगा। वायु का भारत में शक्ति के रूप में अभी प्रयोग नहीं होता। लकड़ी के बारे में हमें पहले से ही ज्ञात है कि हमारे वन इतने कम हैं कि उन्हें शक्ति-उत्पादन के लिए प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। वर्तमान औद्योगिक विकास के लिए कोयला, पेट्रोलियम तथा जल विशेष महत्वपूर्ण है।

कोयला

लोहे के साथ कोयला औद्योगीकरण के लिए आवश्यक है। यह कहा गया है कि कोयला वर्तमान उद्योग धन्धों की अनेक रूप में सेवा करता है।

विश्व में कोयला उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का आठवाँ स्थान है। परन्तु हमारे देश में घटिया किस्म का कोयला ही अधिकतर मिलता है क्योंकि इसमें अत्यधिक राख और नमी पाई जाती है। भारत में कुल कोयले का भण्डार १९५० में ३०,००० मिलियन टन आँका गया था और बाद में कुल कोष राशि का अनुमान ६५०० करोड़ टन लगाया गया था।

भारत में कोयला क्षेत्रों का वितरण असमान है। कुल उत्पादन का ८०% भाग केवल बिहार तथा बंगाल से प्राप्त होता है। कुछ कोयला मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा हैदराबाद में मिलता है। इन खानों से पश्चिमी क्षेत्रों तक कोयला पहुँचाने में यातायात-व्यय अधिक होता है।

इस समय भारत में ८०० कोयले की खानें हैं। पिछले कुछ वर्षों से कोयले का उत्पादन निरन्तर बढ़ रहा है। अधिकतर कोयला रानीगंज व झरिया की खानों से निकाला जाता है।

इस प्रकार भारत में कोयला कम मात्रा में है। सन् १९३७ में भारतीय कोयला समिति ने यह बताया था कि भारत में कोयला १२२ वर्ष तक तथा साधारण कोयला ६२ वर्ष तक चलेगा। अभी हाल ही यह कहा गया कि अच्छे कोयले का अभाव इसी सदी के अन्त तक हो जाएगा। इस कारण उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए कोयले पर निर्भर बहुत समय तक नहीं रहा जा सकता।

भारत में कोयले खोदने के ढंग भी बड़े असन्तोषजनक हैं। बहुत सा कोयला खोदने में ही नष्ट हो जाता है। यह आवश्यक है कि कोयला ठीक प्रकार से निकाला जाय तथा उसका अधिक से अधिक लाभदायक कार्यों में उपयोग किया जाय।

१९५२ में कोयला खान संरक्षण तथा सुरक्षा नियम के पास हो जाने से सरकार को विस्तृत अधिकार मिल गए। इस विधान के अन्तर्गत एक केन्द्रीय मण्डल तथा परामर्श दात्री समितियां स्थापित की गई।

योजना आयोग ने सुझाव दिया कि कोयले के साधनों का पता लगाया जाए, उसका उचित वर्गीकरण किया जाय और कोयले का उचित ढंग से भंडार किया जाए। सन् १९५५ में सरकार ने कोयले की खानों का एकीकरण करने के लिए एक समिति नियुक्त की।

द्वितीय योजना में खनिज विकास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। दूसरी योजना के अन्त में ६ करोड़ टन कोयले की मांग होगी।

पेट्रोलियम

वर्तमान युग में पेट्रोलियम की विशेष औद्योगिक महत्ता है। परन्तु भारत में यह नाममात्र को ही निकलता है। बर्मा और पाकिस्तान के पृथक् होने से हमारे देश को यह तेल विदेशों से मंगवाना पड़ता है। देश की आवश्यकता का केवल १०% पैट्रोल ही देश में उत्पन्न होता है। पट्रोल केवल असम के डिगबोई, बदरपुर तथा हंसापुर स्थानों पर मिलता है। अब इस खनिज तेल की देश के अन्य क्षेत्रों में खोज की जा रही है।

द्वितीय योजना में तेल साधनों का पता लगाने के लिए ११.५ करोड़ रु० निर्धारित किये गए हैं। आधुनिक मशीनों से तेल की खोज का काम पश्चिमी बंगाल और पंजाब के ज्वालामुखी स्थानों में आरम्भ हो गया है। खम्भात प्रदेश में तो तेल मिल भी गया है। प० बंगाल, असम और राजस्थान के जैसलमेर क्षेत्र में सरकार विदेशी विशेषज्ञों की सहायता से सर्वेक्षण का कार्य कर रही है। इस प्रकार डा० एम० एन० कृष्णन् के अनुसार आशा की जा सकती है कि भारत अगले १० वर्षों में तेल में आत्मनिर्भर हो जायगा।

इसके साथ ही आयात किये हुए कच्चे तेल को साफ करने के लिए हाल ही में तीन तेल कम्पनियों द्वारा देश में तेल साफ करने के तीन कारखानें—दो ट्राम्बे में और एक विशाखापट्टम के पास स्थापित किये गए हैं। ये तीन विदेशी कम्पनियां ये हैं —

(१) अमरीका की स्टैण्डर्ड वकुअम आयल कम्पनी, सन् १६५४ में।
(२) इग्लैण्ड की बर्माशैल कम्पनी, सन् १६५५ में।
(३) अमरीका की काल्टैक्स कम्पनी, सन् १६५७ में।

इन तीन कम्पनियों की तेल साफ करने की क्षमता ३७ लाख टन प्रतिवर्ष है। सरकार अब सरकारी तेल के साफ करने के कारखाने को स्थापित करने की योजना बना रही है—एक आसाम में तथा दूसरा बिहार में इसके अतिरिक्त पैट्रोल की कमी को चीनी के शीरे से शक्ति अल्कोहल तथा कोयले से कृत्रिम तेल बनाकर भी पूरा किया जा सकता है। इस ओर राज्य की ओर से एक कारखाना खोलने का निश्चय है, जो प्रतिवर्ष ३ लाख टन सिन्थेटिक तेल उत्पन्न करेगा।

जल–विद्युत् शक्ति

भारत में शक्ति के साधनों में जलशक्ति का विशेष स्थान है। कोयला तथा पैट्रोल के कम पाये जाने के कारण विद्युत शक्ति पर ही निर्भर रहा जा सकता है। बिजली द्वारा सभी प्रकार के लोगों की आवश्यकतायें पूरी हो सकती हैं। आधुनिक जीवन बिजली पर इतना आश्रित है कि लोगों के रहन-सहन के स्तर का माप बिजली के उपभोग की मात्रा से लगाया जाता है। इसका पारिवारिक उपयोग विभिन्न रूपों में है—रोशनी करना, पखा चलाना, हीटर जलाना, रेडियो, टैलीफोन आदि।

बिजली कृषि के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि इससे ट्यूबवैल द्वारा सिंचाई तथा खेती के नए औजारों का प्रयोग किया जा सकता है।

छोटे छोटे उद्योग धन्धों के लिए बिजली अत्यन्त उपयोगी है और इसी कारण जापान तथा स्विटजरलैंड जैसे देश सम्पन्न राष्ट्र बन गए। इसके अतिरिक्त विशालस्तरीय उद्योगों के लिए भी बिजली बहुत उपयुक्त सिद्ध हुई है। इसके द्वारा उद्योगों का विकेन्द्रीकरण सम्भव हो सकता है, जिससे बहुत सी सामाजिक, नैतिक व आर्थिक बुराइयां को दूर किया जा सकता है और स्थानीय श्रम, शक्ति, कच्चे माल, बाजार और खुले स्थान का लाभ उठाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यातायात के साधनों की समस्या बिजली की रेलों द्वारा सुलझ सकती है और इस प्रकार कोयले की बचत हो सकती है। इस प्रकार भारत के आर्थिक और सामाजिक विकास में बिजली द्वारा अभूतपूर्व सहायता मिल सकती है।

भारत में जल–शक्ति के साधन

भारत में बिजली की शक्ति का अनुमान ३.५ करोड़ किलोवाट लगाया गया है परन्तु यहां ५ लाख किलोवाट से अधिक शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकी है। इसका कारण यह है कि बिजली के कारखाने स्थापित करने में अधिक धन की आवश्यकता होती है।

भारत में एक वर्ष में जितनी बिजली [redacted] उपभोग होता है उतनी अमेरिका में केवल एक सप्ताह में ही उपयोग में ले ली जाती है। यहां कुल उपभोग का ४२% भाग बम्बई और

कलकत्ते के काम आ जाता है । हमारे देश में प्रति व्यक्ति बिजली [redacted] प्रयोग केवल २५ किलोवाट घण्टे वार्षिक है, जबकि इंग्लैंड में ६८६, अमेरिका में २६१६ तथा कनाडा में ३५३६ किलोवाट है ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार जल को धन का रूप देने की ओर प्रयत्नशील है और वर्तमान समय में समस्त देश में लगभग १६० योजनाएँ क्रियान्वित की जा रही हैं, जिनके पूर्ण होने से ७ ५ करोड़ एकड़ भूमि अतिरिक्त सींची जा सकेगी, ५०-६० लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न उत्पन्न होगा और १ करोड़ किलोवाट बिजली बनेगी।

प्रथम योजना में १३ लाख किलोवाट अतिरिक्त बिजली उत्पन्न करने [redacted] लक्ष्य था, परन्तु योजनाकाल में वृद्धि केवल ११ लाख किलोवाट की ही हुई । बिजली योजनाओं के लिए २६० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी । द्वितीय योजना में बिजली उत्पादन का अनुमान ३५ लाख किलोवाट का लगाया गया और सार्वजनिक क्षेत्र पर कुल ४२७ करोड़ रु० के व्यय की सम्भावना की गई तृतीय योजना में बिजली के लिए ६ अरब रु० की 'प्रारम्भिक राशि' निर्धारित की गई है।

भारत के मुख्य जल-विद्युत् केन्द्र

(१) बम्बई राज्य :—बिजली उत्पादन में देश में सर्वप्रथम है । यहाँ टाटा के बिजली के ३ कारखाने हैं :— (i) लोनावाला, (ii) आन्ध्र घाटी और (iii) नीलामूला । इन केन्द्रों से राज्य के लगभग १००० मील क्षेत्र को बिजली मिलती है।

(२) मद्रास :—यहा ३ मुख्य विद्युत केन्द्र हैं :—

(i) पाइकारा—सन् १६३२ में पाइकारा नदी के प्रपात से बिजली उत्पन्न कर इसकी स्थापना की गई । इसके द्वारा ६०% कपड़े की मिलों तथा १५% अन्य औद्योगिक कारखानों की होती है।

(ii) मैट्टूर—कावेरी नदी पर बांध बना कर मैट्टूर स्थान पर सिंचाई की नहरें तथा बिजली उत्पन्न करने की व्यवस्था की गई।

(iii) पापानाशम्—यह योजना १६४४ में पूर्ण हुई। इसकी क्षमता २१००० किलोवाट यूनिट है।

मैसूर में महात्मा गान्धी जल विद्युत केन्द्र का काम १६५२ में पूरा हुआ था। पहले इसका नाम जोगशक्ति योजना था।

पंजाब में मण्डी जल-विद्युत योजना के अन्तर्गत जोगेन्द्रनगर स्थान पर विद्युतघर बनाया गया है।

काश्मीर में झेलम नदी पर बारामूला स्थान पर कारखाना स्थापित किया गया है।

उत्तर प्रदेश में,जल-विद्युत गंगानहर विद्युत संगठित क्रम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती है। इससे आठ विद्युत गृह बनाये जा चुके हैं। प्रथम योजना में दो जल-विद्युत योजनाएँ-पथरी तथा शारदा पूरी हो चुकी हैं।

(४) मचकुण्ड योजना .—आन्ध्र प्रदेश में विशाखापत्तनम् जिले में यह बाँध बनाया गया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त में इस बाँध के पास बने बिजलीघरों की क्षमता १ लाख २ हजार किलोवाट हो जायगी। इस पर अनुमानित व्यय २७.३२ करोड़ रु० है।

(५) मयूराक्षी योजना (प० बंगाल) —यह बाँध १९५५ में तैयार हो चुका है और इसके पास बने विद्युत गृह से ४००० किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। अनुमानित लागत १६·११ करोड़ रु० है।

(६) कोसी योजना.—उत्तरी बिहार को इस नदी की बाढ़ के कष्ट से बचाने के लिए यह योजना बनाई गई है, जिस पर सन् १९५५ में काम आरम्भ हो गया था। कुल ४६ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान है और द्वितीय योजना के अन्त तक इस बाँध के पूरे होने की आशा है।

(७) कोयना योजना (बम्बई)—यह १९५४ में आरम्भ की गई थी और आशा है १९६० के अन्त तक इससे बिजली मिलने लगेगी।

(८) नागार्जुन सागर योजना (आंध्र प्रदेश) :—आंध्र राज्य में कृष्णा नदी पर बाँध बनाया जायगा, जिसकी कुल लागत का अनुमान १२२ करोड़ रु० है। इसके द्वारा ७५००० किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी।

(९) रिहन्द बाँध (उत्तर प्रदेश) .—उत्तर प्रदेश में रिहन्द नदी पर दिसम्बर १९५७ में इस योजना पर कार्य आरम्भ हो गया था। योजना की कुल लागत का अनुमान ४५.२६ करोड़ रु० है और उससे २.५ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी।

(१०) चम्बल योजना—यह १९५३ में आरम्भ की गई थी। इसपर अनुमानित व्यय ७१·६६ करोड़ रु० होगा और इससे २ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। इसके अन्तर्गत गांधी सागर बाँध, राणाप्रताप सागर बाँध, कोटा बाँध और कोटा बैरेज बनाने का कार्यक्रम है।

इन योजनाओं के अतिरिक्त और भी कई योजनायें देश के विभिन्न भागों में चलाई जा रही हैं।

प्रश्न

१. भारत के प्राकृतिक साधनों पर प्रकाश डालिये। क्या उनका उचित विकास हुआ है? यदि नहीं तो उन्नति के सुझाव दीजिये।

२. "मानसून के अतिरिक्त कदाचित ही कोई दूसरा कारण भारत की अर्थ व्यवस्था पर इतना प्रभाव डालता है।" इस बारे में अपने विचार दीजिये।

३. भारत में मिट्टी कितने प्रकार की पाई जाती है? मिट्टी कटाव को कैसे रोका जा सकता है?

४ भारत के मुख्य खनिज पदार्थों का वर्णन करिये और उनका औद्योगिक महत्व बताइये।

५ भारत में शक्ति के विभिन्न साधनों का विवरण दीजिये। कुछ प्रमुख बहुउद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिये।

६ भारत की वन-सम्पत्ति का आर्थिक दृष्टि से क्या महत्व है ?

७ भारत एक धनी देश है, परन्तु इसके निवासी निर्धन हैं। इसको समझाइये।



अध्याय ३

जनसंख्या

किसी भी देश की आर्थिक उन्नति में जनसंख्या का महत्वपूर्ण स्थान है। कल्याणकारी राज्य की आकांक्षा की पूर्ति के लिये तथा आर्थिक नियोजन के समय जनसंख्या के आकार, रचना तथा कार्यक्षमता का अध्ययन आवश्यक है।

भारत की जनसंख्या का आकार बहुत बड़ा है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या जम्मू, कश्मीर और आसाम के कबायली क्षेत्र सहित ३६ करोड़ १८ लाख के लगभग थी। इस दृष्टि से विश्व में चीन के बाद भारत का ही स्थान है। सन् १९५८ में अनुमान लगाया गया था कि भारत की जनसंख्या ३९.७५ करोड़ है। १९४१ से १९५१ में जनसंख्या में वृद्धि की दर १३.४ प्रतिशत रही है। यह वृद्धि बहुत अधिक है।

विभिन्न राज्यों में जनसंख्या की सबसे अधिक संख्या उत्तर प्रदेश में है, जहां ६३२ लाख थी। इसके बाद बम्बई ४८० लाख, बिहार ३८८ लाख आदि है। जनसंख्या की वृद्धि दर भी विभिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न रही है। सबसे अधिक बम्बई (२०.८%) की वृद्धि हुई, जबकि पंजाब में .५% घटी है।

जनसंख्या का घनत्व

औसत रूप में एक वर्गमील में जितनी जनसंख्या होती है, उसी को जनसंख्या का घनत्व कहते हैं। देश की कुल जनसंख्या में उसके कुल क्षेत्रफल का भाग देकर जनसंख्या का घनत्व निकाला जाता है। भारत में जनसंख्या का घनत्व ३१२ प्रति वर्ग मील है। देश के विभिन्न भागों में घनत्व भिन्न भिन्न है। दिल्ली प्रदेश में जनसंख्या का घनत्व ३०१७ है जो सबसे अधिक है।

जनसंख्या के घनत्व में अन्तर होने के अनेक कारण हैं।

(१) प्राकृतिक दशाः—जिन क्षेत्रों में पहाड़ियां या पठार हैं, वहां की जनसंख्या कम और बिखर कर बसी होती है। इसके विपरीत मैदानी भागों में जन-संख्या का घनत्व अधिक हुआ है। भारत में गंगा के मैदान में दक्षिण के पठार तथा हिमाचल प्रदेश, आसाम आदि पर्वतीय क्षेत्रों की अपेक्षा जनसंख्या का घनत्व अधिक है।

(२) जलवायुः—जिन स्थानों पर जलवायु स्वास्थ्यप्रद और शक्तिवर्धक होगी, वहां अधिक लोग रहेंगे और जहां जलवायु हानिकारक होगी वहां कम। जैसे उत्तर प्रदेश, बंगाल आदि में घनत्व अधिक है और आसाम तथा हिमालय की तराई में कम है।

(३) वर्षा.—जिन प्रदेशों में वर्षा उचित मात्रा व उचित समय पर होती है वहां कृषि अच्छी प्रकार हो सकती है। अत यहा प्रति वर्गमील अधिक जनसख्या होती है। ऐसे प्रदेश हैं—बगाल बिहार, उत्तर प्रदेश आदि। असम में वर्षा तो अत्यधिक होती है, परन्तु जलवायु अस्वास्थ्यकर होने से घनत्व कम है। राजस्थान और पजाब में वर्षा की न्यूनता के कारण घनत्व कम है।

(४) सिंचाई की सुविधा—*जिन स्थानों में वर्षा की कमी को पूरा करने के लिए* सिंचाई की व्यवस्था है, वहा कृषि उत्पादन के बढने के कारण ही जनसख्या का घनत्व अधिक हो जाता है। सिंचाई के कारण ही पंजाब का घनत्व अधिक हो गया, यद्यपि वहा वर्षा होती है। विविध बहुउद्देश्यीय योजनाओं के पूर्ण होने से वहा के घनत्व में वृद्धि होने की आशा है।

(५) भूमि की उर्वरता—भूमि के अधिक उपजाऊ होने के कारण अधिक उपज प्राप्त हो सकती है और इस प्रकार घनत्व बढ जाता है। बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश आदि *में जनसख्या का घनत्व इसी कारण अधिक है। राजस्थान तथा दक्षिणी पठार की भूमि कम* उपजाऊ है इसलिए वहा घनत्व कम है।

(६) औद्योगिक उन्नति—बगाल और बम्बई राज्य औद्योगिक उन्नति के कारण ही घने बसे हुए हैं। दूसरी ओर पजाब और राजस्थान औद्योगिक विकास के अभाव में कम घने बसे हुए हैं।

(७) सुरक्षा—किसी क्षेत्र की जनता की सख्या वहा पर लोगों की जान और माल की सुरक्षा पर भी बहुत कुछ निर्भर रहती है। सीमावर्ती क्षेत्रों में जनसख्या का घनत्व कम होता है क्योंकि वहा किसी भी समय आक्रमण हो सकता है।

उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट है कि जनसख्या के घनत्व के अन्तर का कोई एक निश्चित कारण नहीं है—विभिन्न कारण एक दूसरे के साथ मिलकर प्रभाव डालते हैं।

भारत की जनसख्या के घनत्व की तुलना अन्य देशों से करें तो ज्ञात होगा कि औद्योगिक राष्ट्रों की अपेक्षा हमारे देश का औसत घनत्व कम है। भारत का घनत्व ३१२, इंग्लैण्ड का ५३६, बेल्जियम ६५४, जर्मनी ४४३ और जापान का ५७६। कुछ कृषिप्रधान देशों का घनत्व कम है, जैसे फ्रांस का १६३, चीन का १२३, कनाडा और आस्ट्रेलिया का ३।

जन्म व मृत्यु दर.—इसका तात्पर्य यह होता है कि किसी देश में एक वर्ष में प्रति १००० व्यक्तियों के पीछे कितने बच्चे जन्म लेते व कितने व्यक्ति मरते हैं। इन दोनों के अन्तर को वृद्धि की दर कहते हैं। भारत में जन्म और मृत्यु दर दोनों ही ससार में सबसे ऊंची है।

देश	जन्मदर	मृत्युदर
भारत	३६.६	२७.४

(१६५१ की जनगणना के कमिश्नर
के अनुमान के अनुसार)

इंग्लैंड	१५६	११४
अमेरिका	२४७	६६
चीन	३७	१७
जापान	२१५	८६

भारत में जन्मदर के अधिक होने के कारण —

(१) अल्प आयु में विवाह —भारत में ८०% लड़कियों का विवाह १५ से ३० वर्ष की आयु में हो जाता है, जबकि ब्रिटेन में इस आयु वर्ग में केवल ४१% का विवाह होता है। बाल विवाह के प्रचलन के कारण हैं—जलवायु का उष्ण होना तथा सामाजिक रीति-रिवाज। इस प्रकार पश्चिमी देशों की अपेक्षा भारत में जन्मदर अधिक है।

(२) अज्ञानता तथा अन्धविश्वास —अनपढ़ होने के कारण अधिकतर लोग भाग्यवादी हैं और बच्चों को भगवान की देन समझते हैं तथा जीवनस्तर ऊँचा उठाना नहीं चाहते, जिससे परिवार का आकार बढ़ता जाता है।

(३) निर्धनता—निर्धन होने के कारण छोटे बच्चों को भी कमाने की ओर प्रेरित किया जाता है और इस प्रकार अधिक बच्चे होना अच्छा समझा जाता है। इसी प्रकार धन के अभाव में गर्भ निरोधक कृत्रिम साधनों का प्रयोग भी नहीं हो पाता।

(४) अधिक मृत्युदर —मृत्युदर अधिक होने के कारण (मुख्यकर बाल-मृत्यु) यह निश्चित नहीं हो पाता कि उनके कितने बच्चे जीवित रह पायेंगे और [redacted] प्रकार मृत्यु के विरुद्ध एक प्रकार का बीमा करने के लिए अधिक बच्चे उत्पन्न करते हैं।

(५) गर्भ निरोधक साधनों का जैसा पश्चिमी देशों में प्रचलन है, भारत में नहीं है। क्योंकि यहां के लोग निर्धन, भाग्यवादी व निरक्षर हैं।

मृत्युदर के ऊंचे होने का कारण बाल व स्त्री-मृत्यु की अधिकता है। भारत में सन् १६५० में बालमृत्यु दर १३७ प्रति हज़ार थी, जबकि अमेरिका में २६.२, इंग्लैंड में २६.८। बालमृत्यु की अधिकता के कई कारण हैं—बालविवाह, मातृत्व का अज्ञान, दूध व दवाइयों का अभाव, शिक्षित दाइयों व नर्सों की कमी, निर्धनता, स्त्रियों का गिरा हुआ स्वास्थ्य आदि।

इसके अतिरिक्त स्त्रियों की मृत्यु दर भी बहुत ऊंची है। यह भारत में २० है, जबकि इंगलैंड में केवल २.६ प्रति १०००। इस ऊंची मृत्युदर के कारण ये हैं—बालविवाह, मातृत्व सम्बन्धी अज्ञान, पुष्टिकारक भोजन का अभाव, शिक्षित दाइयों की कमी आदि।

लोगों की सम्पन्नता बढ़ने तथा चिकित्सा और शिक्षा की सुविधाओं के प्रसार के साथ साथ मृत्युदर तो कम हो रही है परन्तु जन्मदर लगभग स्थिर [redacted] है।

सन्तानोत्पत्ति की दर—इस दर का सिद्धान्त श्री कुजिन्सकी ने प्रतिपादित किया। इसके अनुसार यदि १००० स्त्रियों ने १००० लडकियों को जन्म दिया जो सन्तानोत्पत्ति की आयु तक जीवित रहीं तो इसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक पीढी नई पीढी को जन्म दे रही है और सन्तानोत्पत्ति का औसत एक हुआ। यदि १००० लडकियों से अधिक उत्पन्न हुई तो औसत एक से अधिक होगा। यह दर निकालने के लिए यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक स्त्री सन्तानोत्पत्ति-काल तक जीवित रहती है और फिर परिणाम को मृत्यु-तालिका से ठीक किया जाता है।

दुःख का विषय है कि सन्तानोत्पत्ति का ठीक औसत निकालने के लिए हमारे पास उचित आंकडे नहीं हैं। डा० घाष के अनुसार यह औसत १ १ है, जबकि राष्ट्रीय योजना समिति के अनुमान के अनुसार १ ४५ है।

लिंग अनुपात

भारत में पुरुषों की सख्या स्त्रियों की सख्या से अधिक है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में प्रति १००० पुरुषों के पीछे ६४७ स्त्रिया थीं। उडीसा, मद्रास, केरल और कच्छ राज्यों में स्त्रियों की सख्या पुरुषों से अधिक थी। दूसरी ओर दिल्ली में १००० पुरुषों के पीछे ५६८ स्त्रिया तथा अन्दमान निकोबार में केवल ६२५ स्त्रिया थीं।

जीवन की अवधि

भारत में अन्य देशों की तुलना में जीवन की अवधि बहुत कम है। इसका कारण बाल व स्त्रियों की अधिक मृत्युसख्या तथा निर्धनता है। सन १९३१ में औसत आयु (पुरुष की) २७ वर्ष थी जो बढकर १९५१ में ३२ वर्ष ४ मास हो गई। स्त्रियों की औसत आयु सन् १९३१ में २६ ५६ वर्ष से १९५१ में ३१ ६६ हो गई। दूसरे देशों में दीर्घ जीवन के कारण अधिक उन्नति हुई है। कुछ देशों के लोगों की जीवन अवधि इस प्रकार है—

(१) इगलैंड ६६ ३९ वर्ष (२) कनाडा ६५ १८, (३) आस्ट्रेलिया ६६, (४) स्वीडन ६७ ०६ जबकि भारत की ३२ ४५।

इस प्रकार भारत में लोग अपने जीवन की उस प्रभात वेला में ही मर जाते हैं, जबकि वे समाज के कल्याण में अपना सबसे अधिक योग दे सकें। अत भारत का निर्धन होना इस कारण से अधिक है।

व्यवसाय की दृष्टि से जनसख्या का वितरण

इस प्रकार के अध्ययन से देश की आर्थिक प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में कुल जनसख्या का ६९ ८% कृषि पर निर्भर था, जबकि इगलैंड में ६%, अमेरिका में १९%, कनाडा २६% तथा आस्ट्रेलिया में १६%। इससे स्पष्ट होता है कि भारत में कृषिप्रधान उद्योग है और इसी पर अधिकतर लोग निर्भर हैं।

भारत में खानों, उद्योगों और व्यापार में केवल १६% भाग लगा हुआ है, जबकि अमेरिका में ४५.६% और इंग्लैंड में ५५.५% भाग लगा हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि भारत उद्योग-धन्धों में कितना पिछड़ा हुआ है।

भारत की जनसंख्या का ८२.७% भाग गावों में और १७.३% भाग नगरों में रहता है। पश्चिमी देशों में स्थिति यहां से विपरीत है; जैसे इंग्लैंड में ८० प्रतिशत जनसंख्या नगरों में रहती है तथा फ्रांस में ५२ प्रतिशत। अन्य राज्यों की अपेक्षा बम्बई तथा प० बंगाल में कुल जनसंख्या का ३१ और २४.८ प्रतिशत नगरों में बसा हुआ है। गत वर्षों से नगरों में बसने की प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखाई देती है। परन्तु फिर भी इतने बड़े देश में नगरों की संख्या बहुत कम है। इससे ज्ञात होता है कि देश की आर्थिक व्यवस्था कितनी अवनत है। १९५१ में एक लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या ७३ थी। ग्रामीण जनता अधिकतर अशिक्षित, भाग्यवादी तथा अप्रगतिशील होती है। इसके विपरीत नगरवासी प्रगतिशील तथा शिक्षित होते हैं। इस प्रकार किसी देश में नगरों की अधिकता वहां के बौद्धिक विकास की द्योतक है।

भारत में जनसंख्या की समस्या

भारत में जनसंख्या देश के साधनों के दृष्टिकोण से अधिक है अथवा नहीं—यह प्रश्न विचारणीय है। इस प्रश्न को हल करने के लिए हम भारत में जनसंख्या में वृद्धि के कुछ तथ्यों का विवेचन करेंगे। १९२१ से १९५१ तक ३० वर्षों में जनसंख्या में वृद्धि की दर ३६% रही है। यद्यपि कुछ वर्षों से जन्मदर में कमी आई है, लेकिन मृत्युदर में इससे अधिक गिरावट आई है, जिसके कारण जनसंख्या में बहुत वृद्धि हुई है। इस प्रकार एक ओर तो जन-संख्या में इस गति से वृद्धि है और दूसरी ओर न तो खाद्यान्न का उत्पादन ही बढ़ा है और न जनता के रहन-सहन के स्तर में ही सुधार दृष्टिगोचर होता है। यह इस बात को सिद्ध करते हैं कि भारत के सामने अति जनसंख्या की समस्या है।

कुछ लोगों के अनुसार भारत में अधिक जनसंख्या नहीं है। इस विचार के पक्ष में उनका कहना है कि (१) हमारे प्राकृतिक साधन बहुत हैं और उनके उचित उपयोग से देश अधिक जनसंख्या का बोझा उठाने में समर्थ हो सकता है। (२) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि इस बात की साक्षी है कि हमारी जनसंख्या अधिक नहीं है। (३) भारत में श्रमिकों की कमी भी इस बात को इंगित करती है कि भारत की जनसंख्या अधिक नहीं।

परन्तु वास्तविकता कुछ और है। प्राकृतिक साधनों का जितना उपयोग इस समय किया जा सकता है उसको देखते हुए जनसंख्या अधिक ही है। दूसरे लोगों की वास्तविक आय में वृद्धि नहीं हुई है और तीसरे अशिक्षित मजदूरों की कमी नहीं, परन्तु शिक्षित श्रमिकों की वास्तव में कमी है। इस प्रकार यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारे देश में जनसंख्या अधिक है और इस गम्भीर समस्या का मुकाबला करने के प्रयत्न करने आव-श्यक हैं। माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त हमारे देश में पूर्ण रूप से लागू होता है।

माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार किसी देश की जनसख्या खाद्य सामग्री की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बढती है-यदि किसी प्रकार के अवरोध न हों। ये अवरोध दो प्रकार के हैं — (१) प्राकृतिक प्रतिबन्ध— जैसे अकाल, महामारी, युद्ध आदि। (२) निवारक प्रतिबन्ध—जैसे सयम अथवा गर्भ निरोधक उपाय। भारत में जनसख्या को रोकने के लिए निवारक उपायों का प्रयोग नहीं होता, जबकि प्राकृतिक प्रतिबन्ध बिना किसी रुकावट के अपना कार्य कर रहे हैं। इसी कारण से भारत में मृत्युदर विश्व के अन्य देशों से बहुत अधिक है।

जनसख्या के आधुनिकतम सिद्धान्त 'आदर्श जनसख्या' (Optimum Population) के अनुसार भी भारत अतिकाधित देश है, क्योंकि लोगों की प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बहुत कम है। यद्यपि आकड़ों से पता चलता है कि प्रति व्यक्ति आय निरन्तर बढती जा रही है, परन्तु हमें मूल्य स्तर में होने वाले परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना चाहिये। इस हिसाब से हमें ज्ञात होगा कि प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय में कोई वृद्धि नहीं हुई है। अतः यह सर्वविदित है कि भारत में अति जनसख्या की गम्भीर समस्या है। इसके अतिरिक्त भविष्य में भी जनसख्या के बढने की प्रवृत्ति है। द्वितीय योजना की रिपोर्ट के अनुसार १९६१ से १९७० के बीच जनसख्या की वृद्धि की दर १३ ३% का अनुमान है और १९७१ से १९८० के लिए १४% की वृद्धि दर को माना है। इन दरों के आधार पर सन् १९८१ में देश की जनसख्या ५४ करोड़ हो जायेगी।

जनसंख्या को सीमित करने के उपाय

देश की इस तेजी से बढती जनसख्या की वृद्धि की गति कम करना एक अत्यन्त आवश्यक राष्ट्रीय समस्या है। इस समस्या के सुलझाने के लिए निम्न उपायों को बताया जा सकता है —

(१) देर से विवाह --कुछ नगरों में शिक्षा के प्रचार से और आर्थिक कारणों से अब विवाह देर से होने लगे है। परन्तु अधिकाश विवाह अल्प आयु में ही हो जाते हैं, जिससे यहा की जन्मदर अधिक है।

(२) नैतिक सयम — जनसख्या को सीमित करने का सबसे सरल और सादा उपाय आत्मसंयम है जिसको महात्मा गाधी ने भी उपयुक्त बताया है। परन्तु व्यावहारिक रूप में इसकी उपयोगिता कम है और इस प्रकार बर्थ-कन्ट्रोल के साधन ही अधिक आवश्यक हैं।

(३) शिक्षा —शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता है, जिससे लोग भली प्रकार से अपने अपने परिवार के और समाज के उत्तरदायित्व को समझने लगें। इस प्रकार शिक्षा से परिवार के आकार को सीमित रखने में परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ेगा।

(४) चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ —लोगों का स्वास्थ्य अच्छा होने से उनकी कार्यक्षमता बढेगी और अधिक धन उत्पन्न होगा। यद्यपि अधिक चिकित्सा की सुविधाओं से आरम्भ में तो मृत्युदर घटेगी, परन्तु अन्त में जनसख्या की वृद्धि पर रोक लगेगी। क्योंकि ऊची बालमृत्यु दर के भय से लोग अधिक बच्चे उत्पन्न करते हैं।

(५) देशान्तर-गमन—एक राज्य से दूसरे राज्य अथवा एक देश से दूसरे देश को अतिरिक्त जनसंख्या भेजने का सुझाव युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। क्योंकि राजनैतिक परिस्थितियों के कारण दक्षिणी अफ्रीका, श्रीलंका आदि में पहले से ही बसे हुए भारतीयों पर अनेक अत्याचार हो रहे हैं। दूसरे जनसंख्या की अधिकता तथा भूमि की कमी सभी राज्यों में है।

(६) अधिक उत्पादन—समस्या का वास्तविक समाधान देश में अधिक धन उत्पन्न करना है, जिससे लोगों की आय बढ़े और जीवनस्तर उच्च हो सके। नियोजित रूप से देश के प्राकृतिक साधनों का आर्थिक विकास करके देश की कृषि तथा उद्योगों की स्थिति में उन्नति करना आवश्यक है। यह हर्ष का विषय है कि केन्द्रीय खाद्य मन्त्री श्री एस. के. पाटिल ने अभी हाल ही यह घोषणा की है कि देश तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक खाद्यान्न के बारे में आत्मनिर्भर हो जायगा। इसके अतिरिक्त अब औद्योगीकरण को सम्पन्नता का सूचक मान लिया है और औद्योगिक विकास के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना तथा तृतीय पंचवर्षीय योजना में प्राथमिकता दी गई है।

(७) परिवार नियोजन (Family Planning) — इस उपाय के अन्तर्गत लोगों को अपने परिवार सीमित करने के महत्व तथा साधनों का ज्ञान कराना आवश्यक है। जनसंख्या में वृद्धि को वास्तव में केवल सन्तति-निरोध के उचित तरीकों को अपना कर ही रोका जा सकता है। परन्तु इस कार्यक्रम में कुछ कठिनाइयाँ हैं, जैसे जनता का अज्ञान व अन्धविश्वास, हानि रहित व सस्ते सन्तति-निग्रह के साधनों का अभाव और लोगों की निर्धनता। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि सरकार परिवार नियोजन के विभिन्न साधनों को लोकप्रिय बनाने के लिए स्वयं सक्रिय हो।

योजना आयोग ने भारत में परिवार नियोजन की आवश्यकता व महत्व पर जोर दिया है। प्रथम योजना में इस कार्यक्रम के लिए ६५ लाख रु० की व्यवस्था की गई थी, और विश्व स्वास्थ्य संघ के Dr Stone को इस ओर प्रकाश डालने के लिए आमन्त्रित किया था।

दूसरी योजना में इस कार्यक्रम के लिए ५ करोड़ रु० निर्धारित किये गये थे। नगरों में २००० और गाँवों में ३००० परिवार नियोजन केन्द्र खोलने का विचार किया गया। इनके द्वारा लोगों को परिवार नियोजन की महत्ता तथा बर्थ-कन्ट्रोल के उचित साधनों का ज्ञान कराया जायगा। इसके अतिरिक्त चिकित्सा तथा जीवशास्त्र के सम्बन्ध में अन्वेषण भी किया जायगा।

इस प्रकार ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि सरकार परिवार नियोजन को लोकप्रिय बनाने में सक्रिय प्रयत्न कर रही है। परन्तु इतना सब होने पर भी व्यवहार में कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। इसका जितना प्रचार हुआ है, उतना वास्तविक कार्य नहीं हुआ। जनता के सहयोग बिना जनसंख्या की समस्या हल नहीं हो सकती।

प्रश्न

(१) जनसंख्या के घनत्व से क्या अभिप्राय है ? भारत में भिन्न भिन्न राज्यों में घनत्व भिन्न भिन्न क्यों है ?

(२) क्या भारत में जनसंख्या अधिक है ? यदि है तो इस समस्या को हल करने के लिए सुझाव दीजिये।

(३) भारत की वर्तमान जनसंख्या का सही रूप क्या है ? आपकी दृष्टि में जनसंख्या सम्बन्धी नीति क्या होनी चाहिये ?

(४) परिवार नियोजन से क्या तात्पर्य है ? इस ओर राज्य की ओर से क्या किया जा रहा है ?

(५) भारत में जनसंख्या के पेशेवर वितरण का आर्थिक महत्व बताइये।

यहां सभी भाई अपनी पत्नियों और बच्चों सहित अपने माता-पिता के साथ रहते हैं। परिवार का सबसे वृद्ध व्यक्ति मुखिया या कर्त्ता होता है, सभी सदस्यों की आय एक साथ मिला ली जाती है और चौका-चूल्हा भी एक ही होता है तथा उनकी सम्पत्ति भी सम्मिलित होती है।

लाभ

(१) इसका सबसे उत्तम गुण यह है कि यह परिवार के सभी सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है, जिसके अन्तर्गत बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था तथा विधवा होने पर उनका जीवन-निर्वाह सुचारु रूप से चलता है।

(२) संयुक्त परिवार का अपेक्षाकृत कम आय में काम चल जाता है और इस प्रकार खर्चे में बचत हो जाती है। इसके विपरीत पृथक् पृथक् रहने से एक घर के स्थान पर बहुत से घर चलाने पड़े और इस प्रकार व्यय अधिक करना पड़े।

(३) इस प्रणाली द्वारा कृषि-भूमिका उपविभाजन और खंड विभाजन नहीं हो पाता।

(४) इस व्यवस्था से परिवार के सदस्यों में त्याग और सहयोग की भावना का विकास होता है। प्रत्येक अपनी शक्ति के अनुसार कमाता है और प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार मिलता है। इस प्रकार वे आपस में सहयोग करते हैं और एक दूसरे के हितों को बढ़ाने के लिए त्याग करते हैं।

हानियां

(१) इससे आलस्य की भावना को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि बिना परिश्रम किये भी जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुएं परिवार के सम्मिलित साधनों से मिलती रहती हैं। इस प्रकार स्वावलम्बन के स्थान पर दूसरों पर आश्रित होने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। आगे बढ़ने की साहसी प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है।

(२) परिवार की आय तथा व्यय सम्मिलित रूप में होने के कारण अधिक कमाने के प्रयत्न नहीं किये जाते और पूंजी एकत्रित नहीं हो पाती, जिससे विशाल उद्योगों की स्थापना सम्भव नहीं होती।

(३) इस प्रथा के अन्तर्गत श्रम की गतिशीलता भी कम हो जाती है, क्योंकि परिवार के सभी सदस्य एक स्थान पर ही रहना चाहते हैं।

(४) इस प्रथा से बहुधा परिवार का वातावरण अशान्त रहता है। आपस में ईर्ष्या, द्वेष और कलह रहती है।

पतन

वर्तमान परिस्थितियां इस प्रथा के अनुकूल नहीं हैं और अब इसका शनैः शनैः ह्रास होता जा रहा है। इसके पतन के मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं :—

(१) रेल आदि यातायात के साधनों के विकास के कारण लोग बाहर जाकर नये व्यवसाय आरम्भ करने की प्रेरणा पाते हैं।

(२) पश्चिमी सभ्यता और आधुनिक शिक्षा ने व्यक्तिवाद की भावना को हमारे देश में फैलाया और संयुक्त परिवार प्रणाली की जड़ें हिला दीं।

(३) जनसंख्या की अधिकता, बेकारी और आय की कमी के कारण भी लोग जीविका की खोज में परिवारों से पृथक् होने को विवश हुए।

इन आर्थिक शक्तियों के कारण यह प्रथा अब शीघ्रता से लुप्त होती जा रही है। परन्तु यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत परिवार प्रणाली को अपनाते हुए हम पारस्परिक सहानुभूति और सहयोग को न त्यागें।

उत्तराधिकार के नियम

इंग्लैंड आदि पश्चिमी देशों में पिता की मृत्यु के बाद सबसे बड़ा लड़का सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। परन्तु भारत में उत्तराधिकार नियम के अनुसार उत्तराधिकारियों की संख्या अधिक होती है। हिन्दू समाज में उत्तराधिकार की दो प्रणालियां हैं—(१) मिताक्षर और (२) दाय भाग।

(१) मिताक्षर :—बंगाल को छोड़कर सारे देश में लागू है। इसके अन्तर्गत पुरखों की सम्पत्ति पर परिवार के सब सदस्यों का अधिकार समान होता है। पिता सम्पत्ति का बटवारा करा सकता है। पिता सम्पत्ति को अपने पुत्रों की इच्छा बिना नहीं बेच सकता।

(२) दाय भाग :—यह नियम बंगाल में प्रचलित है, जिसके अन्तर्गत परिवार की सम्पत्ति पर परिवार के कर्ता का पूरा अधिकार होता है। वह उसकी देखभाल करता है और इच्छानुसार बेच सकता है। पिता की मृत्यु के पश्चात ही सम्पत्ति का बटवारा उसके पुत्रों में होता है।

सन् १९५६ के हिन्दू उत्तराधिकार नियमों के अन्तर्गत अब सम्पत्ति का विभाजन केवल लड़कों में ही न होकर लड़कियों, मा, विधवाओं आदि में भी होसकेगा।

मुस्लिम लॉ के अनुसार सम्पत्ति केवल लड़कों में ही नहीं, वरन् लड़कियों में भी विभाजित की जाती है।

गुण

(१) परिवार के प्रत्येक सदस्य को जीवन के आरम्भ में ही कुछ न कुछ सम्पत्ति मिल जाती है जिससे उसको जीविका चलाने का साधन प्राप्त हो जाता है।

(२) इसके द्वारा सम्पत्ति का अधिक व्यापक वितरण होता है और इस प्रकार सम्पत्ति की असमानता को कम करता है।

(३) प्रत्येक को सम्पत्ति में अंश कम मिलने से आगे परिश्रम करके आर्थिक उन्नति करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

दोष

(१) इस नियम से देश की कृषि को बहुत हानि पहुँचती है। खेतों के छोटे छोटे आकार तथा बिखरे हुए होने का यही कारण है।

(२) सम्पत्ति का बहुत से उत्तराधिकारियों में वितरण होने से पूंजी निर्माण में बाधा पहुंचती है।

(३) मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे धन तथा समय का अपव्यय होता है।

धर्म और उसका आर्थिक प्रभाव

बहुत से लेखकों का मत है कि भारत की निर्धनता का एक महत्वपूर्ण कारण हिन्दू लोगों में धर्म के प्रति अत्यधिक आस्था है। पश्चिम में लोग यथार्थवादी और सांसारिक सुखों की ओर अधिक रत हैं, जबकि हमारे देश में लोग भाग्यवादी तथा पारलौकिक कल्याण के लिए त्याग की भावना से जीवन यापन करते हैं।

यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीनकाल में भारत ने आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में बहुत उन्नति की थी। धर्म ने उन्नति के मार्ग में कोई बाधा नहीं उत्पन्न की। हमारा धर्म हमें निष्क्रिय नहीं, परन्तु स्वार्थ त्याग कर भौतिक वस्तुओं के उपार्जन की शिक्षा देता है। अतः भारतीय धर्म देश की उन्नति में बाधक नहीं, सहायक है।

वास्तव में देश की निर्धनता के दूसरे कारण हैं। सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि देश गत दो शताब्दियों में विदेशी राज्य की दासता में रहा, जिससे देश का खूब आर्थिक शोषण हुआ, और इस समय में ही पश्चिमी देशों ने औद्योगिक क्रांति तथा विविध वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप तीव्र गति से उन्नति कर ली और भारत बहुत पीछे रह गया। इसके अतिरिक्त हमारे देश की जलवायु विषम है, जिससे कई प्रकार की महामारियां फैलती हैं जिनसे मनुष्य की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके साथ २ ही हमारे देश में समय समय पर अकाल और बाढ़ आती हैं। इस प्रकार की कठिनाइयों के कारण ही लोग निराशावादी हो गए और भाग्य में विश्वास करने लगे। देश में सुदृढ़ राजनैतिक स्थिति तथा एकता के अभाव में पूंजी का निर्माण न हो सका और बड़े उद्योग स्थापित न हो सके। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् देश आर्थिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है और लोगों की मनोदशा में भी प्रबल परिवर्तन हो रहे हैं, जिससे आशा है कि भारत फिर से एक उन्नत राष्ट्र हो सकेगा।

प्रश्न

१. भारत के सामाजिक ढांचे की मुख्य विशेषताएं बताइये। उनका हमारे आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है?

२. जाति-प्रथा के आर्थिक प्रभाव पर प्रकाश डालिए। इस व्यवस्था के पतन के मुख्य कारण क्या हैं?

३. संयुक्त परिवार प्रणाली का उद्योगों की स्थापना और बचत के क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ता है?

अध्याय ५

कृषि

यह सर्वविदित है कि भारत एक कृषिप्रधान देश है और इस उद्योग में जनसंख्या का ७० प्रतिशत भाग लगा हुआ है। भारत की कुल राष्ट्रीय आय का लगभग ४७ प्रतिशत कृषि से प्राप्त होता है। खाद्य सामग्री को उपलब्ध करने के अतिरिक्त कृषि से हमारे बहुत से उद्योगों को कच्चा माल मिलता है; जैसे रुई, जूट, गन्ना, तिलहन, तम्बाकू आदि। इसी से हम विभिन्न वस्तुएं निर्यात कर विदेशी विनिमय प्राप्त करते हैं। कृषि उद्योग द्वारा रेलों को भारी आय होती है। इस प्रकार देश का बजट कृषि की स्थिति पर ही निर्भर रहता है।

परन्तु कृषि का इतना महत्व होते हुए भी इसकी वर्तमान स्थिति बड़ी असन्तोषजनक है। हमारे देश में प्रति एकड़ उत्पादन दूसरे देशों की अपेक्षा बहुत कम है। अतः देश की निर्धनता को हटाने के लिए प्रति एकड़ उपज को बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है।

खेती की पिछड़ी हुई दशा के निम्नलिखित कारण और उपाय हैं:—

(१) भूमि पर जनसंख्या का अत्यधिक भार.—भारत की जनसंख्या की निरन्तर वृद्धि के कारण तथा खेती पर अधिक लोगों के निर्भर रहने से भूमि उनका अच्छी तरह से भरण-पोषण नहीं कर सकती।

इस बढ़ते हुए भूमि पर दबाव को कम करने के लिए उद्योग-धन्धों और कुटीर-धन्धों को विकसित करना आवश्यक होगा। द्वितीय योजना के अन्तर्गत देश के औद्योगीकरण को प्राथमिकता दी गई है।

(२) वर्षा की कमी और अनिश्चितता:—कृषि वर्षा पर निर्भर है। वर्षा के कम आने या ठीक समय पर न आने से कृषि की प्रति एकड़ उपज कम हो जाती है। इसलिए ही भारत के बजट को 'मानसून का जुआ' (Gamble in Monsoons) कहते हैं। राजस्थान तथा पंजाब के कुछ भाग में वर्षा बहुत कम होती है, अन्य भागों में वर्षा अनिश्चित होती है, जिससे कृषि पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

वर्षा की कमी को दूर करने के लिए सिंचाई के साधनों का विकास आवश्यक है। प्रथम योजना में ६६१ करोड़ रु० सिंचाई और शक्ति योजनाओं पर व्यय का निर्धारण था। द्वितीय योजना में केवल सिंचाई पर ३८१ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान किया गया था।

विभिन्न बहुउद्देश्यीय नदी–घाटी योजनाएं इस ओर काफी प्रगति पर हैं। तीसरी योजना में सिंचाई के लिए ६॥ अरब रु० की आरम्भिक राशि निर्धारित की गई है। (नवभारत टाइम्स, २० मार्च १९६०)

कृषि की प्राचीन प्रणालियां — खेती के वे ही पुराने ढंग हैं—पुराने औजार, अपर्याप्त खाद, घटिया बीज, उपज की बिक्री की दोषपूर्ण प्रणाली, दुर्बल पशु और कीड़ों द्वारा खेती का विनाश आदि।

इन दोषों को मिटाने के लिए सस्ते, उपयुक्त और आधुनिक कृषि यन्त्रों को किसानों को उपलब्ध कराना सरकार तथा सहकारी समितियों का कर्तव्य है। सरकारी फार्मों पर प्रदर्शन द्वारा कृषि के आधुनिक तरीकों का ज्ञान कृषक को कराना आवश्यक है। कृषि अनुसन्धान संस्था द्वारा उत्तम प्रकार के बीज का अन्वेषण करना तथा ऐसे बीजों को सरकारी गोदामों द्वारा किसानों को दिलाना चाहिये। गोबर, हरी खाद तथा रासायनिक खाद के उपयोग को अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना चाहिये। सिन्द्री खाद कारखाने के अतिरिक्त तीन और ऐसे कारखाने (नागल, रूरकेला और दक्षिण अर्काट) खुलने की सम्भावना है। पशुओं की दशा सुधारने के लिए उनकी उचित चिकित्सा व चारे की व्यवस्था करना आवश्यक है। हानिकारक कीड़ों से खेती की रक्षा करनी चाहिये। किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिए यातायात के साधनों में सुधार तथा सहकारी बिक्री आदि उपाय लाभदायक हैं।

(४) खेतों का उपविभाजन और अपखण्डन — भारत में कृषि की पिछड़ी दशा का एक प्रमुख कारण खेतों का छोटा होना तथा बिखरे हुए होना है। इससे आधुनिक मशीनों का उपयोग सम्भव नहीं हो पाता।

इस दोष को दूर करने के लिए खेतों की चकबन्दी, आर्थिक जोत का निर्माण, सहकारी खेती आदि मुख्य उपाय हैं।

(५) दोषपूर्ण भूमि–अधिकार प्रणाली:— जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत किसान का शोषण होता है और भूमिहीन किसानों की समस्या आती है। इस प्रकार खेतों में स्थायी सुधार नहीं हो पाता।

हर्ष का विषय है कि जमींदारी प्रथा अब लगभग सभी राज्यों में समाप्त हो गई है और किसान तथा राज्य के बीच सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाने से लगान सम्बन्धी दोष निकले जा रहे हैं।

(६) किसानों की अशिक्षा, अन्धविश्वास और ऋणग्रस्तता — अशिक्षित व अज्ञानी होने से किसान आधुनिक तरीके से कृषि नहीं कर पाते। सामाजिक कुरीतियों तथा पैतृक ऋण के कारण किसान 'ऋण में जन्म लेता है, ऋण में रहता है और ऋण में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।' किसान सदैव महाजन के चंगुल में ही फंसा रहता है।

किसानों में विशेषकर कृषि शिक्षा का प्रसार, नये यन्त्रों का ज्ञान और सहकारी साख समितियों का खुलना आवश्यक है।

(७) मुकदमेबाजी —अनपढ़ व सकुचित विचारों के होने से किसान छोटी छोटी बातों के लिए आपस में झगड़ बैठते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मुकदमेबाजी मे अपना अमूल्य समय और धन का अपव्यय करते हैं।

शिक्षा व सहकारिता की भावना के प्रचार तथा ग्रामपचायतों की स्थापना द्वारा झगड़े आसानी से निपटाये जा सकते हैं।

भारत में विभिन्न प्रकार की मिट्टी तथा जलवायु पाये जाने के कारण सभी महत्वपूर्ण फसलें यहा उगाई जाती हैं।

पंचवर्षीय योजना के विवरण के अनुसार भारत का भौगोलिक क्षेत्र ८० ६१ करोड़ एकड माना जाता है, जिसमें से आकड़े केवल ७१ ६७ करोड़ एकड़ के ही उपलब्ध हैं। इसमें से कृषि योग्य भूमि ३६ ६६ करोड़ एकड़ है तथा ३२ ०७ करोड़ एकड़ भूमि पर कृषि की जाती है और ४८७ करोड़ एकड़ भूमि बंजर है बोये हुए क्षेत्र में से ८०% में खाद्य फसलें और शेष २० प्रतिशत में दूसरी फसलें उगाई जाती हैं।

(From "India, 1959")

भारत की मुख्य फसलें

(१) गेहू —उत्तरी भारत के लोगो का यह मुख्य खाद्य है। भारत में गेहू का प्रति एकड़ उत्पादन (४५४ पौंड) बहुत कम है। आस्ट्रेलिया तथा अमेरिका में ६०६ और १०७६ पौंड है। १९५७-५८ में गेहूँ उगाने का क्षेत्र ३०० लाख एकड़ था और कुल उत्पादन ७६ ५ लाख टन था। गेहू उत्पन्न करने वाले मुख्य क्षेत्र उत्तर प्रदेश, पजाब, मध्य-प्रदेश, बिहार आदि हैं। विभाजन के फलस्वरूप गेहू के उत्पादन में कमी हो गई, जिससे प्रतिवर्ष गेहूं का आयात करना पड़ता है। सन १९५८ में २६७ लाख टन गेहू का आयात किया गया था।

(२) चावल — यह भारत की सबसे महत्वपूर्ण फसल है। यह अधिकाश जनता का प्रमुख भोजन है। यह अधिक पानी वाली नीची भूमि पर पैदा होता है। भारत में प्रति एकड़ उपज १०४८ पौंड है, जबकि जापान में ३३२१ पौंड है। १९५७-५८ में चावल का क्षेत्र ७६० लाख एकड तथा कुल उत्पादन २४८ लाख टन था। देश में उत्पादन बढाने हेतु सरकार जापानी पद्धति को प्रोत्साहन दे रही है। मुख्य उत्पादन क्षेत्र मद्रास, बगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, बम्बई, आसाम आदि हैं।

(३) मोटे अनाज— ज्वार, बाजरा — ये निर्धन लोगों का मुख्य खाद्य है। इसका उत्पादन देश के विभिन्न भागों में होता है—मुख्यकर बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश, पजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश में। सन् १९५७-५८ में ज्वार का क्षेत्र ४१४ लाख एकड़ और

उत्पादन ८० लाख टन था, जबकि बाजरे का क्रमशः २७४ ५ लाख एकड़ तथा ३५ ६ लाख टन था।

(४) मक्का — यह भी निर्धन व्यक्तियों का महत्वपूर्ण खाद्य है। मुख्य उत्पादन उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान और बिहार में होता है। औसत प्रति एकड़ उपज ८७ मन है।

(५) दालें —चना, उड़द, मूंग, अरहर आदि— ये भोजन के आवश्यक अंग हैं। मुख्य उत्पादक उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, पंजाब, बम्बई, बंगाल हैं। कृषि-क्षेत्र के लगभग ⅙ भाग में दालें उगाई जाती हैं। दालों में चना का उत्पादन प्रमुख है।

प्रथम योजनाकाल में खाद्यान्न उत्पादन में ३० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। सन् १९५०-५१ में कुल उत्पादन ५०० लाख टन था, जो १९५५-५६ में बढ़कर ६५८ लाख टन हो गया।

द्वितीय योजनाकाल में कुल उत्पादन का लक्ष्य ७५० लाख टन रखा था जो बाद में बढ़ाकर ८०५ लाख टन निर्धारित कर दिया। इस प्रकार वृद्धि अनुमानतः १५ प्रतिशत होगी।

तृतीय योजना में कृषि तथा सामुदायिक विकास के लिए दस अरब रु० की 'प्रारम्भिक राशि" निर्धारित क गई है। यह आश्वासन केन्द्रीय खाद्य मन्त्री ने दिया है कि तीसरी योजना के अन्त तक देश खाद्यान्न में आत्मनिर्भर हो जायगा।

(६) गन्ना —भारत के गन्ने का क्षेत्र संसार में सबसे अधिक है। यह नकद फसलों में सबसे प्रमुख है। १९५७-५८ में गन्ना ५० लाख एकड़ भूमि में बोया गया और कुल उत्पादन ६४१ लाख टन था। महत्वपूर्ण उत्पादन क्षेत्र उत्तर प्रदेश, पंजाब और बिहार हैं जिनमें से केवल उत्तर प्रदेश में कुल गन्ने के क्षेत्र का ६०% भाग है। प्रथम योजना में गन्ने के उत्पादन में विशेष वृद्धि नहीं हुई। द्वितीय योजना में १९६०-६१ तक उत्पादन ७१ लाख टन तक करने का लक्ष्य था, जिसको बाद में ७८ लाख टन कर दिया गया। गन्ने की प्रति एकड़ उपज तथा किस्म में सुधार के लिये भी सरकार प्रयत्नशील है।

(७) कपास —विश्व में कपास उत्पन्न करने वाले देशों में भारत का स्थान अमेरिका और रूस के बाद है परन्तु यहां अधिकतर छोटे रेशेवाली कपास पैदा होतीहै। इस-लिये बड़े रेशे की कपास का आयात किया जाता है। विभाजन से इस प्रकार की आवश्य-कता और भी बढ़ गई थी। सरकार अच्छे किस्म की कपास उत्पन्न करने की ओर प्रयत्न कर रही है।

भारत में कपास के मुख्य क्षेत्र बम्बई, मध्य प्रदेश, मद्रास और हैदराबाद। प्रथम योजना में उत्पादन का लक्ष्य ४२ लाख गाठों का था जबकि १९५५-५६ में उत्पादन ४० लाख गाठों का हुआ। द्वितीय योजना में लक्ष्य पहले ५५ लाख गाठें रखा गया था जो बाद में ६५ लाख गाठों तक बढ़ा दिया गया।

(८) जूट —विभाजन से पूर्व जूट उत्पादन में भारत को एकाधिकार प्राप्त था,

परन्तु अब भारत को कच्चे जूट के लिये पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ता है। पश्चिमी बंगाल, असम, बिहार और उड़ीसा मुख्य उत्पादन क्षेत्र हैं। प्रथम योजना में उत्पादन का लक्ष्य ५४ लाख गांठ था। दूसरी योजना में उत्पादन का लक्ष्य ५० लाख गांठ था, जिसे बाद में ५५ लाख गांठ तक बढा दिया गया। सन् १६५८-५६ में उत्पादन ५१·८ लाख गांठ का हुआ और जूट उत्पादन क्षेत्र १८.३ लाख एकड़ था।

(६) तिलहन —(मूंगफली, तिल सरसों अलसी, रेंडी) इनका उपयोग तेल निकालने, वनस्पति घी, साबुन, मोमबत्ती, पालिश आदि बनाने में किया जाता है। इनकी खली पशुओं के चारे के काम आती है तथा यह एक उत्तम खाद भी है। ये देश के लिये महत्वपूर्ण निर्यात की वस्तुएं भी हैं।

तिलहनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूंगफली है यह मुख्यकर बम्बई, आन्ध्र, मद्रास, मैसूर और उत्तर-प्रदेश में उत्पन्न होती है। सन् १६५५-५६ में तिलहनों का कुल उत्पादन ५६ लाख टन था। दूसरी योजना में उत्पादन का लक्ष्य ७० लाख टन था जिसको बाद में बढ़ाकर ७६ लाख टन कर दिया गया।

(१०) चाय —भारत चीन के बाद विश्व में चाय का सबसे बड़ा उत्पादक है। इसके उत्पादन का अधिक भाग इंगलैंड, अमेरिका आदि देशों को भेजा जाता है। चाय के बगीचे मुख्य रूप से असम, दार्जिलिंग, देहरादून व नीलगिरी में हैं। दूसरी योजना में उत्पादन का लक्ष्य ७०० लाख पौंड है।

(११) कहवा — यह मैसूर, मद्रास, ट्रावनकोर, कोचीन में उगाया जाता है। पहले भारत से कहवा अधिक मात्रा में निर्यात किया जाता था परन्तु अब यह स्थान ब्राजिल ने ले लिया है।

(१२) रबर —यह मुख्यत दक्षिणी भारत में उत्पन्न होता है—केरल, मद्रास तथा मैसूर।

(१३) तम्बाकू -इसकी खेत मद्रास, मध्यप्रदेश, पंजाब तथा बंगाल में होती है। विश्व में भारत का स्थान अमेरिका तथा चीन के बाद आता है। परन्तु हमारे यहां की तम्बाकू घटिया किस्म की होती है, अत इसको सुधारना आवश्यक है।

(१४) अफीम —पोस्त की खेती सरकार के आधीन है। यह उत्तर प्रदेश, पूर्वी राजस्थान तथ मध्यप्रदेश में उत्पन्न की जाती है।

प्रश्न

(१) भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व बताइये। भारत में कृषि की पिछड़ी हुई दशा के क्या कारण हैं ? उसके सुधार के सुझाव भी दीजिये।

(२) भारत की मुख्य फसलें क्या हैं ? उनका भौगोलिक विवरण दीजिये।

(३) "किसान के लिये खेती करना व्यापार की अपेक्षा जीवन का एक ढंग है।" इस कथन की आलोचना कीजिये।

अध्याय ६

कृषि जोतें

कृषि की एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात जोत का आकार है। भारत में जोतों का आकार अत्यन्त छोटा है। योजना आयोग के अनुसार हमारे देश में ३४% जोतें एक एकड़ से भी छोटी हैं, ६४% जोतें ५ एकड़ से भी छोटी और केवल १ प्रतिशत जोतें ५० एकड़ से बड़ी हैं। विभिन्न राज्यों में जोतों का आकार भिन्न भिन्न है। जैसे प० बंगाल में ४.४ एकड़, उत्तर प्रदेश में २.५ एकड़, मद्रास में ४.५ एकड़, बम्बई में १३.३ और पंजाब में १० एकड़। सारे देश की औसत ७·५ एकड़ है। दूसरे देशों की अपेक्षा यह औसत बहुत कम है; जैसे इंग्लैंड २० एकड़, अमेरिका १४५ एकड़ और फ्रांस २० एकड़।

भारत में कृषि उत्पादन के कम होने का एक मुख्य कारण खेतों का छोटे और बिखरे हुए होना है। खेतों के उपविभाजन से तात्पर्य यह है कि भूस्वामी के मरने पर उसके उत्तराधिकारियों में भूमि का छोटे छोटे अंशों में बंटना। इस प्रकार पीढ़ी–दर–पीढ़ी खेत छोटे होते जाते हैं।

कृषि जोतों के अपखंडन से अभिप्राय है कि किसानों के सब खेत एक स्थान पर न होकर कई स्थानों पर पाये जाते हैं। इस प्रकार खेत छोटे ही नहीं, किन्तु वे अनेक टुकड़ों में बँटकर गांवों के विभिन्न क्षेत्रों में बिखरे हुए हैं। बहुत से विशेषज्ञों जैसे डा. मन (Mann) कलवर्ट, रामलाल मल्ला, डा. राधाकमल मुकर्जी, डा. गिलबर्ट स्लेटर आदि की खोज से पुष्टि होती है कि देश के विभिन्न राज्यों में जोतों का आकार बहुत छोटा है तथा खेत बिखरे हुए हैं।

कारण

(१) भूमि पर जनसंख्या का अधिक दबावः—जनसंख्या का ७० प्रतिशत भाग कृषि पर अवलम्बित है जबकि नई भूमि को कृषि योग्य बनाने में विशेष वृद्धि नहीं हुई है। इसके साथ ही एक ओर तो जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही, दूसरी ओर लाभप्रद व्यवसायों का उपयुक्त विकास नहीं हो पाया है। अतः अधिकांश में लोगों को कृषि पर ही अवलम्बित होना पड़ता है जिससे खेत का आकार छोटा होता जाता है।

(२) उत्तराधिकार के नियमः—पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के फलस्वरूप पिता

की मृत्यु पर उसके खेतों का बँटवारा उसके उत्तराधिकारियों में होता है इससे पीढ़ी दर पीढ़ी खेत छोटे और छितरे होते जाते हैं।

(३) कुटीर धन्धों का पतन—इंगलैंड के औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् हमारे देश के कुटीर धन्धों का विनाश होने लगा और इन उद्योगों में लगे लोगों को कृषि पर ही निर्भर होना पड़ा जिससे खेतों का बँटवारा होता गया।

(४) संयुक्त परिवार प्रणाली का अन्त —पश्चिमी सभ्यता व शिक्षा के प्रसार के साथ ही लोगों में व्यक्तिवाद की भावना उदय हुई और इस प्रकार सम्पत्ति के विभाजन की भावना पैदा हुई।

(५) कृषि ऋणग्रस्तता.—बहुत से कृषकों को महाजनों के प्रति अपना ऋण चुकाने के लिये अपनी भूमि का कुछ अंश बेचना पड़ता है, जिससे जोतों का उपविभाजन बढ़ा।

लाभ

(१) उपविभाजन से सभी लोगों को थोड़ी थोड़ी भूमि जोतने के लिये मिल जाती है, जो आर्थिक समानता के अनुरूप है। इस प्रकार देश में आर्थिक व सामाजिक स्थिरता स्थापित होती है।

(२) भूमि के अपखण्डन से किसान के पास कई प्रकार की भूमि होती है, जिससे कम उपजाऊ भूमि की क्षतिपूर्ति अधिक उपजाऊ भूमि से हो जाती है।

(३) उपविभाजन से छोटे खेतों में गहरी खेती हो सकती है, जिससे प्रति एकड़ उपज बढ़ सकती है।

हानियां

(१) समय, भूमि तथा श्रम का अपव्यय—खेतों के छोटे तथा दूर दूर तक बिखरे हुए होने के कारण एक खेत से दूसरे खेत में जाने से समय नष्ट होता है। इसके साथ ही किसान वर्ष में काफी समय तक बेकार रहते हैं। इसके अतिरिक्त मेड़ों और रास्तों को बनाने के कारण बहुत सी भूमि का अपव्यय हो जाता है। श्रम बचाने वाली मशीनों, ट्रेक्टर आदि का उपयोग भी इन छोटे खेतों पर नहीं हो सकता।

(२) स्थानीय सुधार असम्भव.—छोटे किसानों की विषम आर्थिक स्थिति के कारण खेतों में स्थायी सुधार, जैसे सिंचाई आदि का प्रबन्ध नहीं हो सकता।

(३) मुकदमेबाजी—उपखण्डन होने से किसानों में आपस में द्वेष फैलता है, जिसके फलस्वरूप मुकदमेबाजी बढ़ती है, जिसमें किसानों का समय व धन बर्बाद होता है।

डा० मन के शब्दों में 'यह साहस को नष्ट करता है, अधिक श्रम बेकार जाता है, सीमाएं और मेड़ें बनाने से भूमि की बहुत अधिक हानि होती है और खेतों पर विस्तृत खेती असम्भव हो जाती है।'

उपाय

लाभों की अपेक्षा इसके दोष अधिक हैं । इस कारण कृषि व्यवसाय को समुन्नत करने के लिये यह आवश्यक है कि जोतें उचित आर्थिक आकार की हों।

आर्थिक जोत के बारे में विभिन्न लेखकों ने विभिन्न अर्थ लगाये हैं, जिनमें प्रमुख हैं कीटिंग, डा० मन, स्टैनले जेवन्स आदि। इन सबका सारांश यह निकलता है कि आर्थिक जोत वह खेत है जो किसान तथा उसके परिवार का उचित रूप से भरण-पोषण कर सके।

इस प्रकार के खेत कई प्रकार से बनाये जा सकते हैं।

(१) भूमि का समाजीकरण —भूमि पर से निजी-स्वामित्व के अधिकार को समाप्त कर सरकार देश की सभी भूमि का राष्ट्रीयकरण करके बड़े बड़े खेतों पर स्वयं आधुनिक ढंग से खेती करे, जैसे कि रूस में होता है। परन्तु यह विधि भारत के लिये उपयुक्त नहीं है। अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर निजी अधिकार रखते हुए केवल भूमि पर ही यह सिद्धान्त लागू करना अन्यायपूर्ण होगा और दूसरे सरकार के पास इस कार्य के लिए पर्याप्त साधन भी नहीं हैं।

(२) जोतों की उच्चतम व निम्नतम सीमा निर्धारित करना.—विभिन्न स्थानों की जाँच करके आर्थिक जोतों का आकार निश्चित किया जाय। बड़े भूस्वामियों के पास उच्चतम सीमा से अधिक भूमि अनार्थिक जोतों के स्वामियों को दिलाई जावे। यह अधिक न्यायपूर्ण होगा और सम्पत्ति का समान वितरण होगा, जो देश में समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना के लिये आवश्यक है। योजना आयोग ने राज्यों द्वारा कृषि उच्चतम सीमा निर्धारित करने की सिफारिश की है। परन्तु इस उपाय से अधिक भूमि उपलब्ध नहीं होगी जिससे अधिकांश अनार्थिक जोतों को आर्थिक बनाया जा सके। विभिन्न राज्यों द्वारा उच्चतम सीमा निश्चित करने की ओर विधान बनाये गये हैं।

इसके साथ ही यह आवश्यक है कि एक निम्नतम सीमा के पश्चात् जोतों का भविष्य में किसी प्रकार से उपविभाजन व उपखण्डन न हो। इस बारे में भी कुछ राज्यों में विधान बनाये गये हैं, जिनके अन्तर्गत भूमि का ऐसा विभाजन पट्टा या हस्तांतरण नहीं किया जा सकता जो जोत को स्टैण्डर्ड क्षेत्र या आकार से कम कर दे।

(३) उत्तराधिकार के नियमों में परिवर्तन —इस नियम में परिवर्तन ■■ उत्तराधिकार केवल सबसे बड़े पुत्र को दिया जाय, परन्तु यह न्यायसंगत न होगा, क्योंकि इससे छोटे पुत्रों की जीविका प्रश्न बना रहेगा।

(४) नई भूमि को कृषि योग्य बनाना —इसके द्वारा भी समस्या का समुचित हल नहीं हो सकता है क्योंकि एक ओर तो भूमि का क्षेत्र निश्चित है और दूसरी ओर जनसंख्या भी तीव्र गति से वृद्धि हो रही है। अब यह आवश्यक है कि जनसंख्या पर नियन्त्रण किया जाय और उद्योग-धन्धों के विकास द्वारा अतिरिक्त जनसंख्या को खपाया जाय, जिससे भूमि पर दबाव कम हो।

(५) चकबन्दी —इसके मुख्यत तीन तरीके हैं —

(i) छोटे और बिखरे हुए खेतों को स्वेच्छा से बड़े बड़े खेतों में संगठित किया जाय और सहकारी सिद्धान्त पर खेती की जाय।

(ii) यह अनुभव हुआ कि स्वैच्छिक चकबन्दी की गति बहुत मन्द होगी, अत सहकारी समितियों की स्थापना को प्रोत्साहन देना आवश्यक समझा गया। परन्तु यहा भी सहकारी समिति की स्थापना सभी सदस्यों की स्वीकृति से ही हो सकती थी। पजाब को इस प्रयोग में सफलता मिली। उत्तर प्रदेश तथा मद्रास में भी इस ओर प्रगति हुई।

(iii) अनिवार्य चकबन्दी —स्वेच्छा से सहकारी समितियो के निर्माण में अधिक सफलता न मिलने के कारण विभिन्न राज्यों ने इसे अनिवार्य बनाने का कदम उठाया। इस प्रकार यदि गाव का बहुमत अथवा किसानों का एक निश्चित प्रतिशत चकबन्दी को स्वीकार करता है तो अल्पसख्यकों पर भी यह योजना अनिवार्य रूप से लागू की जा सकती है। इस तरह के कानून मध्य प्रदेश, पजाब और उत्तर प्रदेश आदि में बनाये गये, परन्तु परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहा।

इस ओर अधिक प्रगति न होने से यह कहा गया कि चकबन्दी का कार्य स्वयं सरकार करे और वह उसे सभी किसानों पर लागू करे चाहे किसान अपनी स्वीकृति न दें। इस प्रकार के अनिवार्यता के कानून बम्बई पजाब और उत्तर प्रदेश में बनाये गये। इन कानूनों ने समस्या को केवल छू भर दिया है, वास्तविक रूप में विशेष सफलता नहीं मिली है। यह आशा की जा सकती है कि जमींदारी प्रथा के समाप्त होने से और भूमि व्यवस्था के अधिक सरल बनाये जाने और भूमि-सुधार के विभिन्न उपायों के कार्यान्वित होने से चकबन्दी की समस्या अधिक सुगम हो जायगी।

(६) सहकारी कृषि —इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसान सहकारी कृषि समितिया सगठित करते हैं, वे अपनी जमीन को एक साथ मिलाकर सयुक्त रूप से खेती करते हैं और पूर्व निर्धारित आधार पर उत्पादन का आपस में बटवारा कर लेते हैं। इसके द्वारा बड़े स्तर पर खेती की जा सकती है और साथ ही किसान का भूमि से सम्बन्ध-विच्छेद भी नहीं होता। यह चार प्रकार की होती है —

(i) सहकारी सयुक्त कृषि (Cooperative Joint Farming) —छोटे छोटे खेतों के स्वामी अपने खेतों को एक साथ मिला लेते हैं परन्तु अपनी अपनी भूमि का स्वामित्व बना रहता है। प्रबन्ध सहकारी समिति द्वारा होता है और श्रम की मजदूरी तथा भूमि के स्वामित्व का लाभाश सदस्यों को मिलता है।

(ii) सहकारी काश्तकार कृषि(Cooperative Tenant Fomring) —सहकारी समिति स्वय भूमि की स्वामी होती है परन्तु वह स्वय खेती न करके भूमि के हिस्सों को किसानों को लगान के आधार पर देकर खेती करवाती है। सदस्यों को अच्छा बीज,

खाद, औजार प्रदान किये जाते हैं, परन्तु खेती समिति की बनाई योजना के अनुसार होती है।

(iii) सहकारी कृषि सुधार समितिः—विभिन्न भूस्वामी अपनी भूमि पर अधिकार रखते हुए केवल उन्नत खेती के लिये सहकारी समिति बनाते हैं। यह समिति उनको अच्छा बीज, खाद औजार देती है और उत्पादन के विक्रय की व्यवस्था करती है।

(iv) सहकारी सामूहिक कृषि (Cooperative Collective Farming) सहकारी समिति स्वयं ही भूमि की स्वामी होती है और स्वयं ही खेती का कार्य संचालन करती है तथा सदस्यों को उनके परिश्रम के लिये मजदूरी देती है। सदस्य भूमि के स्वयं स्वामी नहीं होते।

भारत के विभिन्न राज्यों; जैसे बम्बई, आसाम, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, मैसूर, उत्तर प्रदेश में सहकारी कृषि प्रयोग के रूप में चल रही है। भारत में सहकारी कृषि एक विवादग्रस्त प्रश्न बन गया है। परन्तु इसके अनेक लाभ हैं, जैसे जोतों के आकार में वृद्धि होना, बड़े पैमाने के लाभ व बचत, फसल के खराब होने की जोखिम का अधिक लोगों में बटना, सहकारिता की भावना का उदय होना और किसान तथा सरकार के निकट सम्पर्क आदि। इन लाभों के विपरीत भारत में इसकी सफलता अनिश्चित है क्योंकि किसानों में स्वय सेवा, पारस्परिक विश्वास और नेतृत्व का जो इन समितियों के लिए आवश्यक है, प्रायः अभाव पाया जाता है। अतः यह अनुभव किया जा रहा है कि किसानों को अपनी भूमि एक में मिलाने और सहकारी प्रणाली से खेती की व्यवस्था करने में कुछ दबाव डालना आवश्यक है।

कांग्रेस कृषि सुधार समिति १९४९-५० ने सहकारी कृषि की सिफारिश की है। अब हाल में प्रधानमंत्री ने कृषि को उन्नत करने का एकमात्र उपाय सहकारी खेती बताया है। प्रथम योजना में ५० लाख रु० विभिन्न राज्यों में सहकारी कृषि के प्रयोग के लिए निर्धारित किये थे, परन्तु इस दिशा में कुछ नहीं हो पाया। द्वितीय योजना में मुख्य लक्ष्य यह रखा गया कि ऐसे आवश्यक पद उठाये जायें जो देश में सहकारी खेती के विकास के लिए ठोस आधार प्रदान करें, जिससे अगले १० वर्षों में अधिकतर खेती सहकारी ढंग से होने लगे।

प्रश्न

(१) भारत में जोतों के छोटे और छिटके होने की समस्या के हल करने के उपाय बताइये।

(२) भारत में सहकारी कृषि के पक्ष और विपक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिये। क्या आप भारत में सहकारी कृषि का समर्थन करते हैं ?

(३) आर्थिक जोत का क्या अर्थ है ? भूमि की उच्चतम सीमा निश्चित करने के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

अध्याय ७

भूमि-अधिकार प्रणालियाँ

भूमि प्रकृति की देन है। अतः सभी देशों में सरकार स्वय को भूमि का स्वामी मानती है, परन्तु वह खुद खेती न करके निजी व्यक्तियों को खेती करने का अधिकार भूमिकर (मालगुजारी) लेकर प्रदान करती है। इस प्रकार हमें यह देखना है कि किसान के भूमि में क्या अधिकार हैं और इनके साथ ही उनका राज्य अथवा अन्य मध्यजनों से क्या सम्बन्ध है। यदि स्वयं भूमि जोतने वाला ही भूमि का स्वामी है और उसके तथा सरकार के बीच कोई अन्य मध्यस्थ नहीं है तो देश में खेती की दशा उन्नत होगी। आर्थर यग के शब्दों में ("निजी सम्पत्ति का जादू रेत को भी सोना बना देता है।")

भारत में भूमि-सुधार अधिनियम लागू होने से पूर्व भू-अधिकार की तीन प्रणालियां रही हैं:—

(१) रैयतवारी, (२) महलवारी और (३) जमींदारी।

(१) रैयतवारी.—इस प्रथा के अन्तर्गत किसान और सरकार के बीच कोई जमींदार अथवा मध्यस्थ नहीं होता और उसका सरकार से सीधा सम्बन्ध होता है। अतः वह स्वयं ही सरकार को मालगुजारी देने का उत्तरदायी होता है। किसान को अपनी भूमि जोतने, बेचने या छोड़ने का पूरा अधिकार होता है। मालगुजारी परिस्थितियों के अनुसार समय समय पर निश्चित की जाती है।

गुण

(१) किसान और सरकार के बीच सीधा सम्बन्ध होने के कारण किसानों का जमींदारी प्रथा के अनुसार शोषण नहीं होता।

(२) इस प्रथा के अन्तर्गत मालगुजारी सदा के लिए निश्चित नहीं हो जाती, समय समय निर्धारित होती है जिससे भूमि पर होने वाली उन्नति का लाभ सरकार को पहुंच जाता है।

(३) जिन भागों में यह प्रथा पाई जाती है, वहां चकबन्दी, सहकारी खेती आदि को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

कृषि-सुधार में जमींदारी उन्मूलन एक महत्वपूर्ण कार्य था। जमींदारी की समाप्ति से देश में एक स्वस्थ वातावरण स्थापित हो गया। किसानों को भूमि पर अपना अधिकार मिल गया तथा सरकार के साथ सीधा सम्पर्क हो गया। भूमि पर स्थायी सुधार सम्भव होने लगे। लगान निश्चित हो गया और अधिक लगान, बेगारी और नजरानों के दोष समाप्त हो गये। किसानों की आय में वृद्धि हुई और उनका जीवनस्तर ऊँचा हो गया। इसके साथ ही सरकार की आय भी बढ़ी। ग्रामीण समाज में समानता, सहकारिता और न्याय का वातावरण उपस्थित होने की आशा है।

परन्तु इसके साथ ही हमें यह याद रखना पड़ेगा कि केवल जमींदारी-उन्मूलन ही कृषि-उत्थान का एकमात्र उपाय नहीं है। प्रधान मन्त्री के शब्दों में "इसके द्वारा विकास की राह में बाधा को हटाया गया है।" अतः आवश्यकता ऐसे सक्रिय पद उठाने की है, जिससे वास्तव में कृषि-उत्पादन बढ़े, जैसे-सिंचाई की व्यवस्था, अच्छे बीज, वैज्ञानिक खाद, आधुनिक यन्त्र तथा साख और बिक्री की सुविधाएँ। इसके साथ ही लघु और कुटीर उद्योगों का विकास तथा उनका विशालस्तर उद्योगों से समन्वय आवश्यक है।

यह प्रसन्नता की बात है कि पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सरकार उपर्युक्त कार्यों की ओर प्रयत्नशील है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भूमि-सुधार के प्रस्ताव निम्नलिखित भागों में बांटे गए हैं :—

(१) मध्यस्थ, (२) बड़े भूमिपति, (३) छोटे भूमिपति, (४) इच्छित काश्तकार और (५) भूमिहीन कृषि-श्रमिक।

सर्वप्रथम यह कहा गया कि सभी जमींदार तथा अन्य मध्यस्थ के अधिकार समाप्त होने चाहिए। इसके बाद लगान वसूली का प्रबन्ध अच्छा होना चाहिए। उच्चतम सीमा को लागू करने से प्राप्त अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन कृषि-श्रमिकों को बांटना तथा उनकी दशा सुधारना। खेतों की चकबन्दी द्वारा सहकारिता के सिद्धान्त का पुनर्गठन करना आदि महत्वपूर्ण कार्य करना आवश्यक है।

द्वितीय योजना में भी भूमि-सुधार के कार्यों पर अधिक महत्व दिया गया है। राज्य सरकारों को भूमि-प्रबन्ध सम्बन्धी विधान पास करना चाहिए। उन्नत फार्मों को प्रोत्साहन देना चाहिये। भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित करने पर बल दिया गया है। ग्रामों में विभिन्न भूमि-सम्बन्धी अधिकारों के नियमों का अमल ग्राम पंचायतों द्वारा उचित देखरेख में होना चाहिये। अन्त में यदि सहकारी आधार पर पूरे ग्राम का प्रबन्ध हो सके और कृषि से सम्बन्धित अन्य उद्योग-धन्धों का विकास हो सके तो समस्या का हल हो सकता है।

प्रश्न

(१) भारत में प्रचलित भूमि–अधिकार प्रणालियों का वर्णन कीजिए। उनके दोष प्रकट करते हुए सुधार विषयक प्रस्ताव दीजिये।

(२) भारत में भूमि–समस्या का क्या स्वरूप है ? पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भूमि–नीति की व्याख्या कीजिये।

(३) भारत में उच्चतम भूमि–सीमा निश्चित करने पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

(४) गत कुछ वर्षों में विभिन्न राज्यों में भूमि के सम्बन्ध में जो कानून बने हैं उनकी क्या प्रवृत्तियां रही हैं और उनका कृषि–व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

अध्याय ६

कृषि सुधार और विकास के राजकीय कार्यक्रम

खाद्य-समस्या (Food Problem)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् खाद्य-समस्या हमारी आर्थिक समस्याओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा गंभीर रही है। अभी भी इसका सदा के लिये हल नहीं हो पाया है, परन्तु स्थिति इतनी गंभीर नहीं है। वास्तव में यह एक आश्चर्य की बात है कि कृषिप्रधान देश होते हुए भी भारत को अपने निवासियों के पेट भरने के लिये दूसरे देशों के सम्मुख हाथ पसारना पड़ता है।

गत: ६० वर्षों में देश की निरंतर बढ़ती हुई जनसंख्या ने वर्तमान खाद्य समस्या को जन्म दिया। सरकार, जनता व नेताओं सभी का ध्यान इस ओर लगा हुआ है। सन् १८८० के अकाल कमीशन ने बताया था कि देश में ५ मिलियन टन अनाज अतिरिक्त था। परन्तु १९१४ की मूल्य जांच समिति के इस कथन ने कि भारत में कृषि योग्य भूमि की अपेक्षा जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, सब लोगों का ध्यान इस समस्या की ओर आकर्षित किया। सन् १९४२ में खाद्यान्नों की अत्यन्त कमी हुई और १९४३ के बंगाल के दुर्भिक्ष ने तो समस्या का विकट रूप प्रकट किया।

खाद्यान्नों की कमी के कारण:—यह तो सर्वविदित ही है कि पिछले १० वर्षों में जनसंख्या में अत्यन्त तीव्र गति से वृद्धि हुई है। भारत के जनगणना कमिश्नर ने प्रकट किया कि सन् १९८१ तक जनसंख्या लगभग ५६ करोड़ हो जायगी। यदि जनसंख्या को नियंत्रित नहीं किया गया और खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि नहीं की गई तो यह एक जटिल समस्या हो जायगी। द्वितीय महायुद्ध के साथ मूल्यों में वृद्धि रोकने के लिये सन् १९४२ में मूल्य नियंत्रण लगाया गया। बाद में सन् १९४३ से राशनिंग भी आरम्भ कर दिया गया। कुछ लोगों के अनुसार देश में पर्याप्त अनाज था, परन्तु वितरण और नियंत्रण के कारण खाद्यान्नों की कमी हो गई। इसके अतिरिक्त सरकार की नीति के कारण संचयन और काले बाजार को प्रोत्साहन मिला।

इसके साथ ही कुछ राजनैतिक घटनाओं ने भी भारत की खाद्य समस्या को जटिल बनाने में योग दिया। सन् १९३७ में बर्मा भारत से पृथक कर दिया गया, जिससे चावल का अभाव हो गया। सन् १९४७ में विभाजन के फलस्वरूप गेहूँ तथा चावल उत्पन्न करने

वाले क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से में चले गये। कपास व जूट वाले क्षेत्रों के जाने से भी हमें अपने उद्योगों के लिये उनका उत्पादन बढाना पड़ा।

देश में विभाजन के साथ साथ विस्थापितों की एक बड़ी सख्या के भारत आगमन से खाद्यान्नों का सकट और बढ गया।

प्रतिवर्ष हमारे देश में प्राकृतिक प्रकोप, जैसे वर्षा न होना, बाढ आना आदि के कारण फसलें खराब हो जाती हैं, जिससे अनाज की कमी हो जाती है।

इन सब कारणों से हम सहज ही समझ सकते हैं कि यदि देश में खाद्यान्नों का अभाव है तो फिर क्या आश्चर्य!

समस्या को हल करने के प्रयत्न

(१) आयात —सरकार ने खाद्य के अभाव की पूर्ति करने के लिये विदेशों से आयात करना आरम्भ कर दिया, जिससे कुछ सीमा तक आतक समाप्त हो गया और दूसरे सकटकालीन स्थिति का भी सामना किया जा सका। गेहू का आयात कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि से और चावल का बर्मा, चीन आदि से किया जाने लगा। सन् १६४८ में आयात लगभग ३२ लाख टन का था। सन् १६५६ के आयात का अनुमान १५ लाख टन है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को देखते हुए और देश के आर्थिक विकास के हित में हम अधिक दिन तक आयात पर निर्भर नही रह सकते। साथ ही विदेशों से अन्न मगाने से हमारे देश के औद्योगीकरण के लिये विविध मशीनें नही मगाई जा सकती।

(२) नियत्रण —सबसे पहले सन् १६४२ में केन्द्र में खाद्य विभाग की स्थापना की गई, जिसका कर्तव्य वितरण पर नियत्रण करके भावों में कमी करना था। इसके अतिरिक्त जुलाई १६४३ में खाद्यान्न नीति समिति नियुक्त की गई, जिसने देश में राशनिंग तथा नियत्रण के सुझाव दिये। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय अन्नभण्डार की स्थापना की गई। अन्न खरीदने का कार्य सरकारी विभाग को सौंपा गया।

(३) 'अधिक अन्न उगाओ' आन्दोलन —यह आन्दोलन सन् १६४३ में आरम्भ किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य देश में अधिक भूमि कृषि के लिये उपयोग में लाकर तथा वर्तमान भूमि को सुधार कर अन्न उत्पादन बढाना था। इस आन्दोलन की बातें निम्नलिखित थीं —

(१) खाद्यान्नों के उत्पादन क्षेत्र में नई भूमि कृषि के अन्तर्गत लाकर वृद्धि करना। राज्य सरकारों ने इस ओर लोगों को उत्साहित करने के लिये ऋण आदि आर्थिक सहायता प्रदान की।

(२) सिंचाई साधनों का विस्तार तथा सुधार करना।

(३) अच्छे बीज और वैज्ञानिक खाद का उपयोग करना।

(३) दीर्घकालीन '—जो खेतों में स्थायी सुधार करने के लिए, जैसे कुआ, तालाब खोदना, आधुनिक मशीनें खरीदना आदि तथा पैतृक ऋण चुकाने के लिए लिया जाता है।

ऋण लेने के साधन

(१) देशी बैंकर व साहूकार —यद्यपि महाजनों के कार्यों पर सरकार द्वारा विभिन्न नियन्त्रण लगा दिये गए हैं परन्तु अभी भी गांव में ऋण प्राप्त करने का सबसे प्रमुख साधन महाजन है। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार किसान ऋणों का ७०% भाग महाजनों से प्राप्त करते हैं।

महाजनों की कार्य-प्रणाली बहुत ही सीधी-सादी होती है। कोई भी व्यक्ति किसी भी समय किसी भी कार्य के लिए कितनी भी मात्रा में महाजन से ऋण प्राप्त कर सकता है। इन सुविधाओं के कारण ही ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था में महाजन का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु यह बहुधा अपनी स्थिति का अनुचित लाभ उठाता है। ऊंची ब्याज की दर लेना तथा कई प्रकार की धोखाधड़ी करना साधारण बात है। स्ट्रिक्लैंड के अनुसार महाजन अनियन्त्रित ऋण देता है—किसान की हैसियत से अधिक ऋण देना। परिणामस्वरूप भारतीय किसान ऋण में ही जन्म लेता है, ऋण में ही रहता है और ऋण में ही मरता है।

इन दोषों के होने पर भी महाजन को समाप्त नहीं किया जा सकता, जब तक कि किसान को ऋण देने के दूसरे साधनों का समुचित विकास नहीं हो जाता। इस प्रकार यह एक आवश्यक बुराई है जिसमें उचित सुधार करना चाहिए। कृषि-वित्त उपसमिति (गाडगिल समिति) ने महाजनों की लाइसेंस लेने, ठीक हिसाब-किताब रखने, उचित ब्याज की दर निश्चित करने व किसानों की मारपीट से रक्षा के लिए सुझाव दिए हैं। इन सुझावों के अनुसार विभिन्न राज्यों में कानून बनाये जा रहे हैं, जिससे आशा है कि महाजन देश के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।

(२) सहकारी साख समितियाँ —सन् १९०४ के कानून से सहकारी साख समितियों की स्थापना हमारे देश में होने लगी। एक व्यवसाय जाति अथवा गाँव के कम से कम १० व्यक्ति मिलकर एक समिति बना सकते हैं, जो सदस्यों को उत्पादन के कार्यों के लिए ऋण दे सकें। सदस्यों का दायित्व असीमित होता है। १९१२ के एक्ट ने गैर साख समितियों की स्थापना की भी सुविधा दी।

परन्तु इन समितियों को अधिक सफलता नहीं मिली है और इनसे किसानों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकता का ३% ही पूरा होता है। असफलता के कारण जनता की अशिक्षा, सरकारी नियन्त्रण, सदस्यों का ऋण न लौटाना आदि है।

सहकारी आन्दोलन को प्रोत्साहित करने के लिए बहुउद्देश्यीय समितियों की स्थापना का सुझाव रिजर्व बैंक ने दिया है। एक समिति ही किसान की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को

पूरा कर सके, जैसे सदस्यों की उपज की बिक्री करना, उत्तम बीज व औजार का वितरण, चकबन्दी करना, अच्छा जीवन बिताने के उपाय आदि ।

(३) भूमिबन्धक बैंक :—किसान को भूमि में स्थायी सुधार करने तथा भूतकालीन ऋण चुकाने के लिए दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता है । भूमिबन्धक बैंक भूमि रहन रखकर किसान को २०, २५ वर्षों के लिए ऋण देते हैं । सन् १६२० में सर्वप्रथम पंजाब में ये स्थापित किये गए, परन्तु इनकी सफलता सबसे अधिक मद्रास में हुई है । रिजर्व बैंक ने यह सुझाव दिया है कि इन बैंकों को कम ब्याज पर भूमि तथा कृषि सुधार की योजनाओं में पूंजी लगानी चाहिये ।

(४) मिश्रित पूँजी वाले बैंक —किसानों को व्यापारिक बैंकों से बहुत कम ऋण प्राप्त होता है । किसान ऋण प्राप्त करने के लिए धरोहर नहीं दे सकते और ये बैंक अपनी शाखाएँ गावों में खोलना नहीं चाहते । इन बैंकों से केवल बड़े गावों के सम्पन्न लोगों को ऋण मिलता है । इसके अतिरिक्त ये सहकारी, केन्द्रीय तथा राज्य बैंकों को ऋण देते हैं । इस प्रकार ये कृषि–वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओं को कुछ सीमा तक परोक्ष रूप में पूरा करते हैं ।

(५) रिजर्व बैंक :—रिजर्व बैंक ने कृषि को आर्थिक सहायता देने के लिए एक कृषि–साख विभाग खोला है । यह निम्नलिखित कार्य करता है —

(१) सहकारी प्रतिभूतियों के पीछे अधिक से अधिक ६० दिन के लिए राज्य सहकारी बैंकों केन्द्रीय तथा भूमिबन्धक बैंकों को ऋण दे सकता है ।

(२) राज्य सहकारी बैंकों के कृषि–सम्बन्धी कागज १५ मास के लिए पुनर्भुगतान पर खरीद सकता है ।

(३) राज्य सहकारी बैंकों को १५ मास से लेकर ५ वर्ष की अवधि के लिए मध्यकालीन ऋण दे सकता है ।

(४) सन् १६५६ से रिजर्व बैंक उन कृषकों को भी ऋण दे सकता है जो किसी सहकारी संस्था के सदस्य हों और जिन्हें कृषि उत्पादनों की तैयारी या बिक्री से सम्बन्धित किसी कार्य के लिए अर्थ की आवश्यकता हो ।

(५) एक राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष तथा एक राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष स्थापित करने का अधिकार भी रिजर्व बैंक को दिया गया है, जिससे राज्य सरकारें बड़ी बड़ी सहकारी समितियों, सहकारी बैंकों तथा भूमिबन्धक बैंकों की अंश पूंजी में भी कुछ योग दे सकती हैं ।

(६) राज्य बैंक (स्टेट बैंक आफ इण्डिया) :— सन् १६५१ की गोरवाला समिति के सुझावों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक आफ इण्डिया की स्थापना सन् १६५५ में की गई । इसे ५ वर्षों

में ४०० शाखायें स्थापित करना था। यह बैंक बैंकिंग सम्बन्धी व्यावसायिक कार्य करने के साथ ही सहकारी संस्थाओं की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए ऋण देगा।

(७) सरकार—राज्य सरकारें किसानों को लघु तथा दीर्घकालीन ऋण देती हैं जिन्हें तकावी ऋण कहते हैं। दीर्घकालीन ऋण भूमि सुधार ऋण कानून (१८८३) के अन्तर्गत दिया जाता है तथा लघुकालीन ऋण किसान ऋण कानून (१८८४) के अन्तर्गत। दीर्घकालीन ऋण भूमि में सुधार करने, जैसे कुआ खोदने, बंध बनाने आदि के लिए अधिक से अधिक २५ वर्षों के लिए तथा लघुकालीन ऋण १ या २ वर्षों के लिए बीज, खाद, हल, बैल आदि खरीदने के लिए दिया जाता है।

परन्तु यह देखा गया है कि तकावी ऋणों को बहुत कम मात्रा में दिया जाता है। इसके साथ ही ऋण देने में देरी, वसूल करते समय सख्ती और सरकारी अफसरों की रिश्वत आदि मुख्य दोष हैं।

राज्य सरकारों द्वारा ऋण समझौता कानून भी पास किये गये हैं, जिनके द्वारा ऋण-दाता तथा ऋणी और सरकारी अफसर तथा गैर सरकारी व्यक्ति मिलकर ऋण कम कर देते हैं और ऋणी को ऋण किश्तों में चुकाने की सुविधा दी जाती है।

इतना सब होने पर भी ग्रामीण ऋण की समस्या अभी तक नहीं सुलझी है, क्योंकि जो कानून बनाये गये हैं उनसे पुराने ऋण को कम करना तथा किसानों को महाजन के चंगुल से बचाना ही कुछ अंशों तक सम्भव हो सका है। ऐसे प्रयत्न नहीं किये गये, जिनसे किसानों की आर्थिक स्थिति में स्थायी तौर पर सुधार हो सके। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि पुराने ऋणों को समाप्त कर कृषि विकास की समुचित योजना बने, जिसमें सामूहिक कृषि, सिंचाई का प्रबन्ध, सहकारी समितियों का पुनर्गठन तथा कृषि सम्बन्धी कुटीर-धन्धे आदि बातें सम्मिलित हों। हर्ष का विषय है कि पंचवर्षीय योजनाओं तथा सामूहिक विकास योजनाओं द्वारा कृषि-क्रान्ति लाने का प्रयास किया जा रहा है।

सामूहिक विकास योजना
(Community Projects)

भारत में ग्रामों की अधिकता होने के कारण यह समझा गया कि गाँवों के विकास द्वारा ही देश की आर्थिक उन्नति सम्भव है। इस उद्देश्य को लेकर ही २ अक्टूबर, १९५२ को देश में ५५ सामूहिक विकास योजनाओं को आरम्भ किया गया, जो १९५९ के आरम्भ में २४०७ हो गई। अक्टूबर, १९६३ तक सारे देश में विकास खण्डों का जाल सा बिछ जायगा।

गाँवों के लोगों के जीवन के हर पहलू को उन्नत करने के लिए इस योजना में ८ उद्देश्य रखे गये—(१) कृषि, (२) यातायात, (३) शिक्षा, (४) स्वास्थ्य, (५) ट्रेनिंग, (६) सहायक रोजगार, (७) मकान और (८) सामाजिक कल्याण।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस योजना के उद्देश्य अधिक ही नहीं, वरन् प्रत्येक उद्देश्य बड़ा व्यापक है जिनको पूरा करना ग्रामीण जनता का पूरा पूरा सहयोग मिले बिना सरकार के लिये असम्भव है।

सन् १९५६ में इस योजना के बढ़ते हुए कार्य के कारण एक पृथक मन्त्रालय स्थापित किया गया। एक केन्द्रीय समिति तथा सामूहिक योजना प्रबन्धक समिति भी निर्मित की गई जो इस योजना के नियोजन निर्देशन तथा समन्वय के लिए उत्तरदायी है।

प्रत्येक योजना क्षेत्र में लगभग ३०० गाव हैं, जिनमें २ लाख व्यक्ति तथा १।। लाख एकड़ कृषि योग्य भूमि है। प्रत्येक विकास खण्ड को ५ से १० ग्रामों के समूह में बाटा गया है। इस खण्ड में एक मण्डी इकाई है जो आर्थिक, सामाजिक तथा सामूहिक कार्यों का केन्द्र है।

इस योजना के कार्यक्रमों की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताए केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार और अमेरिकन टेक्नीकल कोआपरेशन मिशन द्वारा पूरी होती हैं। प्रथम योजना में इसके लिए ६९.४ करोड़ रु० रखे गये थे, लेकिन इस पर कुल ५२ करोड़ रु० व्यय हुए। द्वितीय योजना में इस पर २०० करोड़ रु० व्यय का निश्चय था।

राष्ट्रीय विस्तार सेवा
(National Extension Service)

यह २ अक्तूबर, १९५३ से आरम्भ की गई। इसका उद्देश्य गाव में किसानों को कृषि विज्ञान के विषय में जानकारी कराना है, जिससे खेती के उन्नत तरीके लोगों को मालूम हो जायें। इसके द्वारा गाँव की सब समस्यायें सहकारी सिद्धान्त पर सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस योजना की व्यवस्था सामूहिक विकास योजना के अनुसार ही है। प्रथम योजना में इस पर १०१ करोड़ रु० व्यय किये गये। द्वितीय योजना में सारे देश में राष्ट्रीय विस्तार सेवा को फैलाना था।

योजना आयोग ने इस योजना के कार्यक्रमों की जाच करके एक रिपोर्ट प्रस्तुत की है, जिसने इस योजना की त्रुटियों तथा सुझावों को बताया है। लोगों में आत्मनिर्भरता तथा स्वयं कार्य करने की भावना उत्पन्न नहीं हो पाई है और प्रत्येक बात में वे सरकार का मुह जोहते हैं। इसी प्रकार इस योजना के लाभ अधिकतर पहुँच के अन्दर के गावों को तथा बड़े खेत वाले किसानों को मिला है। सामाजिक दृष्टिकोण में भी कोई अन्तर नहीं हो सका है और लोग सहकारी समितियों तथा पचायतों में कम भाग लेते हैं। दूसरी ओर इस योजना के उद्देश्य और टेकनीक अपर्याप्त तथा असमान हैं।

कुछ समय पूर्व ही बलवन्तराय मेहता समिति ने सामूहिक विकास योजना के विकास के लिए अपने सुझाव दिये हैं, जिसमें बताया गया है कि योजना का नियन्त्रण कार्य पचायत समिति को सौंप दिया जाय। इसका कार्य खेती, लघु सिंचाई आदि की उन्नति, प्रारम्भिक

स्कूलों का नियन्त्रण तथा स्थानीय उद्योगों को प्रोत्साहन देना होगा। केन्द्रीय सरकार धन द्वारा राज्य सरकारों की सहायता करे और अनुसन्धान के एकीकरण का कार्य करे। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधाएं अपर्याप्त हैं, वहां मोटे अनाज के उत्तम बीज वितरित किये जायें।

जनवरी, १९५८ को राष्ट्रीय उन्नति कौंसिल ने मेहता समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है तथा विकास क्षेत्रों में प्रजातांत्रिक संस्था स्थापित करने के कार्य कुछ राज्यों में किये जा रहे हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामूहिक विकास योजनाएँ तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवाएं आश्चर्यजनक रूप में कार्य कर रही हैं। यदि कुछ आधारभूत तथा महत्वपूर्ण कठिनाइयों को दूर कर दिया जाय तो निश्चय ही इस योजना से भारत का ग्रामीण जीवन पूर्ण रूप से बदल जायगा और सुख-समृद्धि हो सकेगी।

राज्य और कृषि

अंग्रेजों ने भारत की कृषि की उन्नति में कोई रुचि नहीं ली। सन् १८८० के अकाल कमीशन ने राज्यों में कृषि विभाग खोलने को कहा, जिससे अकाल फिर न पड़े और कृषि [redacted] विकास हो सके। किसानों को कुछ राहत देने के लिये १८५९ में लगान कानून, १८८३ में भूमि सुधारक ऋण कानून, १८८४ में कृषक ऋण कानून और १८८५ में भूमि अधिकार कानून बनाये। १८८६ में शाही कृषि समिति के डा० वाल्लकर ने कृषि की परिस्थितियों का अध्ययन कर बहुमूल्य सुझाव दिये। सन् १९०४ में सहकारी समिति कानून बनाया गया। कृषि विकास का सबसे प्रमुख सरकारी कदम पंजाब, उत्तर प्रदेश और मद्रास में सिंचाई सुविधाएं उपलब्ध करना था।

१९१९ के सुधारों के बाद कृषि प्रान्तीय विषय बना दिया गया, जिससे कृषि के विभिन्न पहलुओं में सरकारी सहायता का कार्य बढ़ गया। १९२६ में कृषि की जांच के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने १९२८ में विभिन्न सुझावों से युक्त विस्तृत रिपोर्ट दी। सरकार ने एक सुझाव को मानते हुए १९२९ में शाही कृषि अनुसंधान सभा की स्थापना की, जिससे कृषि अनुसंधान का कार्य उन्नत हो सके।

विश्वमन्दी के समय कृषि उपज की बिक्री के संगठन के लिये बहुत से नियन्त्रित बाजारों की स्थापना की। द्वितीय महायुद्ध के समय बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने के लिये नियंत्रण तथा राशनिंग आरम्भ किये गये। बंगाल में अकाल के कारण १९४३ में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन चलाया गया। विभाजन के बाद देश में खाद्य स्थिति की गंभीरता को देखकर कृषि उपज बढ़ाने के विभिन्न कार्यक्रम निर्धारित किये, जिनमें जमींदारी उन्मूलन, चकबन्दी, सहकारी कृषि, बहुउद्देश्यीय नदी घाटी योजनाएं, सामूहिक विकास योजनाएं आदि प्रमुख हैं।

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में कृषि को प्राथमिकता दी। दूसरी योजना में उद्योग-धन्धों को प्रमुखता प्रदान की गई है, परन्तु फिर भी कृषि के महत्व को कम नहीं किया है। प्रथम योजनाकाल में कृषि और सिंचाई पर ६६२ करोड़ रु० व्यय किये गये अर्थात कुल व्यय का ३१%। द्वितीय योजना में कृषि उत्पादन में १८% वृद्धि की आशा है। कृषि और सिंचाई पर कुल व्यय की २१% राशि निर्धारित की गई थी।

इस प्रकार सरकार कृषि के विकास के लिये सतत प्रयास कर रही है, परन्तु अभी बहुत कुछ करना बाकी है। यह कहा गया है कि भारत सरकार प्रति किसान पर कृषि उन्नति के लिये ११ आने प्रतिवर्ष व्यय कर रही है, जबकि कनाडा में २० रु० प्रति व्यक्ति तथा अमेरिका में ७७ रु० प्रति व्यक्ति खर्च किया जाता है।

प्रश्न

१. भारत की खाद्य समस्या के हल करने के सरकारी प्रयत्नों की विवेचना कीजिये और उनमें कहा तक सफलता मिली है?

२ भारत में कृषि के प्रति राज्य की नीति की समीक्षा कीजिये।

३. भारत में कृषि वित्त देने के वर्तमान साधनों का वर्णन करिये।

४. भदान यज्ञ का आर्थिक महत्व बताते हुए यह बताइये कि यह कहा तक सफल हुआ है?

५ भारत में सामूहिक विकास योजनाओं का मूल्यांकन कीजिये। इनके दोषों को दूर करने के सुझाव दीजिये।

अध्याय १०

कुटीर उद्योग

प्राचीन काल में भारत में कुटीर उद्योगों का बहुत महत्व था भारत सूती वस्त्र, नक्काशी, तारें तथा जलपोत के निर्माण के लिए संसार प्रसिद्ध था, लेकिन भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना से कुटीर धन्धों का ह्रास होता गया।

जो उद्योग-धन्धे कारीगर स्वयं अपने घर पर अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से करता है, वे कुटीर धन्धे कहलाते हैं। इनको घरेलू धन्धे भी कहते हैं, जैसे-कपड़ा बुनना, सूत कातना, रेशम बनाना, तेल निकालना, दस्तकारी के काम, धातु के बर्तन, सोने-चांदी के तार आदि।

कुटीर धन्धों का वर्गीकरण

(१) वे घरेलू उद्योग जो किसानों के लिए सहायक होते हैं, जैसे हाथकर्घे की बुनाई, टोकरी रस्सी, चटाई बनाना, रेशम की कीड़े पालना आदि

(२) वे उद्योग जिनसे गांवों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, जैसे लोहार खाती, जुलाहे, सुनार, कुम्हार आदि।

महत्व

कुटीर उद्योगों का देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है। भारत एक कृषिप्रधान देश है। यह एक निर्धन देश है और अधिकांश जनता का जीवनस्तर नीचा है। हमारे कृषकों को पूरे वर्ष भर काम नहीं करना पड़ता है। कृषि के शाही कमीशन के के अनुसार कृषक को वर्ष भर काम करने की आवश्यकता नहीं होती। वर्ष में ४ महीने वह बिल्कुल खाली रहता है, ऐसे खाली समय में उसको तथा उसके परिवार को कोई काम देने के लिये कुटीर व्यवसायों की आवश्यकता है। भारतीय बैंकिंग जांच समिति का मत था कि कुटीर धन्धों द्वारा किसान अपनी आय बढा सकता है।

राष्ट्रीय योजना समिति के अनुसार ग्रामीण भारत की अधिकांश जनता अपने भौतिक कल्याण के लिए अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं कर पाती, अत उनके लिए कुटीर उद्योगों का होना आवश्यक है। "यदि हम कृषि को

वैज्ञानिक व यांत्रिक करना चाहते हैं तो जो लोग बेरोजगार हो जायेंगे, उन्हें कुटीर धन्धों द्वारा जीविका निर्वाह का साधन प्राप्त हो सकता है। भारत में कृषि वर्षा पर निर्भर है, अतः कुटीर धन्धों द्वारा अकाल की भीषणता कम हो सकती है। इस प्रकार फसलें खराब होने की दशा में "धनुष में दूसरी डोरी के समान" ये उद्योग सहायक सिद्ध होंगे।

कुटीर उद्योग हमारे देशवासियों की प्राकृतिक प्रतिभा और राष्ट्रीय परम्परा के अनुकूल हैं। कई पीढ़ियों के अनुभव से यहां के कारीगरों ने इन कार्यों में दक्षता प्राप्त की है। इन उद्योगों के लिये आवश्यक कच्चा माल हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इनमें बहुत कम पूंजी की आवश्यकता होती है जो कि कारीगर स्वयं लगा सकते हैं। इनमें साधारण औजारों की आवश्यकता पड़ती है जो देश में आसानी से बनाये जा सकते हैं।

हमारे देश का श्रम अभी अशिक्षित एवं अनिपुण है, अतः इस श्रम से छोटे कारखानों का विकास सुगमतापूर्वक हो सकता है। भूमि पर जनसंख्या के अधिक बढ़ जाने से कृषि अलाभदायक उद्योग हो गया है अतः कृषकों की आय बढ़ाने के लिए कुटीर धन्धों का विकास करना आवश्यक है। बड़े बड़े कारखानों में महगी व पेचीदा मशीनों के प्रयोग से श्रम बचत का लाभ प्राप्त होता है, अतः कम आबादी वाले देशों में जहाँ श्रम पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है, इनसे अधिक लाभ प्राप्त हो सकता है।

महात्मा गाँधी ने देश के आर्थिक पुनर्गठन में कुटीर धन्धों के महत्व पर अधिक बल दिया। इसके अतिरिक्त दूसरे नेताओं जैसे विनोबा भावे, डा० राजेन्द्रप्रसाद आदि ने भी कुटीर उद्योगों को देश के आर्थिक विकास में आवश्यक बताया है।

कुटीर उद्योगों की अवनति

(१) राजदरबारों की समाप्ति :—प्राचीन काल में राजदरबारों की छत्रछाया में बहुत से धन्धे पला करते थे। अंग्रेजी की सत्ता बढ़ने के साथ साथ राजाओं-नवाबों की शक्ति क्षीण होती गई, जिसके फलस्वरूप जो संरक्षण व आर्थिक सहायता उद्योगों को मिलती थी, उसका अन्त हो गया और इस प्रकार धीरे धीरे उद्योग-धन्धों का विनाश होता गया।

(२) पाश्चात्य सभ्यता:—अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी अफसरों की नकल के कारण विदेशी वस्तुओं की मांग बढ़ने लगी। इस प्रकार कलात्मक वस्तुओं तथा निपुण कारीगरों द्वारा बनाई हुई वस्तुओं की मांग कम हो गई, जिससे कुटीर उद्योग लुप्त होते गये। वेरा एन्स्टे का कहना है कि भारत के धनी वर्गों ने पश्चिमी फैशन ग्रहण करना आरम्भ किया और पश्चिमी देशों में बनी वस्तुएं खरीदना आरम्भ कर दिया।

(३) ब्रिटिश सरकार की नीति:—ब्रिटिश सरकार ने ऐसे कानून बनाये, जिससे इंगलैंड में भारत के कपड़े का आयात पूर्णतः बन्द हो गया। इसके अतिरिक्त भारत में इंगलैंड का मशीन निर्मित माल बेचने को सरकारी स्तर पर प्रोत्साहन दिया गया। इस

प्रकार ब्रिटिश नीति भारत को कच्चा माल का उत्पादक बनाने तथा अपने अधीन रखने की थी।

(४) मशीन निर्मित माल के साथ प्रतियोगिता :— भारत के कुटीर धन्धों के पतन का मुख्य कारण मशीन द्वारा बने हुए माल के साथ प्रतियोगिता थी। इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति (१७६०) के कारण बड़े पैमाने पर सस्ता माल बड़ी बड़ी मशीनों से बनने लगा। भारत में रेलों के विकास तथा सरकारी नीति के कारण यह सस्ता माल देश के विभिन्न भागों में आसानी से पहुँच गया, जिसके सामने देशी उद्योग-धन्धे खड़े नहीं रह सके और वे नष्ट होने लगे।

(५) भारत सरकार की मुक्त व्यापार नीति (Free Trade Policy) :— भारत सरकार ने इन मृतप्राय उद्योग-धन्धों को कोई सहारा नहीं दिया। भारत सरकार ने ब्रिटिश नीति का अनुकरण करते हुए प्रतिबन्धरहित व्यापार नीति अपनाई और उद्योगों के संरक्षण के बारे में सन् १६२१ तक कुछ भी नहीं सोचा।

कुटीर धन्धों की कठिनाइयां तथा उपचार

(१) कारीगरों को सस्ते दाम पर उचित मात्रा में कच्चा माल नहीं मिलता है। कच्चे माल की समस्या को सहकारी समितियों द्वारा सुगमता से हल किया जा सकता है। ये समितियां थोक भाव पर माल खरीद कर अपने सदस्यों को उचित मूल्य पर दे सकती हैं।

(२) यद्यपि कारीगरों को थोड़ी ही पूंजी की आवश्यकता होती है परन्तु वह भी उन्हें सुगमता से नहीं मिल पाती है। उन्हें महाजनों से ऊंची ब्याज दर पर ऋण लेना पड़ता है या अधिक मूल्य पर कच्चा माल लेना पड़ता है। सहकारी समितियां, प्रान्तीय औद्योगिक अर्थ प्रमण्डल तथा सरकारी सहायता द्वारा कारीगरों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है।

(३) कारीगर इतने निर्धन हैं कि वे छोटे छोटे औजार भी प्राप्त नहीं कर सकते। कुटीर धन्धों की उन्नति के लिए छोटे छोटे औजार, मशीनों तथा विद्युत की आवश्यकता है। इस ओर सहकारी समितियां तथा सरकार उचित सहायता प्रदान कर सकती है।

(४) कुटीर धन्धों की वस्तुओं की बिक्री की व्यवस्था ठीक नहीं है और कारीगरों को उचित मूल्य नहीं मिलता। बिक्री का कार्य सहकारी विक्रय समितियों द्वारा किया जा सकता है। प्रत्येक प्रदेश में विपणन मण्डल बनाकर उनकी शाखायें प्रत्येक गांव में खोलना आवश्यक है। मध्यजनों द्वारा शोषण को रोकने के लिए राज्य सरकारों ने एम्पोरियम खोल दिये हैं।

(५) अन्य कठिनाइयों में कारीगरों की अशिक्षा व अज्ञानता, अनुसन्धान का अभाव, शिल्पिक सहायता का अभाव आदि मुख्य हैं, जिनके बारे में केन्द्रीय सरकार का कुटीर उद्योग बोर्ड महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

कुटीर उद्योग और सरकार

कुटीर उद्योगों का देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्व को ध्यान में रखते हुए सरकार ने ये संस्थायें स्थापित की हैं— अखिल भारतीय खादी बोर्ड, कुटीर उद्योग बोर्ड, कोयर बोर्ड तथा केन्द्रीय रेशम बोर्ड।

तान्त्रिक सहायता देने के लिए औद्योगिक विस्तार सेवा आरम्भ की गई है, जिसका दिसम्बर १९५८ में पुनर्गठन किया गया है जिससे प्रत्येक राज्य में एक एक संस्था स्थापित की जा सके। विदेशों से विशेषज्ञ बुलाकर इन उद्योगों को सहायता दी जाती है। इसी प्रकार विदेशों में प्रशिक्षा के लिए भी कारीगर भेजे जाते हैं। फरवरी १९५५ में राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना हुई, जो सरकार के क्रय विभागों से सम्पर्क रखता है और उनकी ओर से छोटी उद्योग इकाइयों को माल सप्लाई करने का आदेश देता है। इसके अतिरिक्त, निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए भारतीय दस्तकारी विकास कारपोरेशन स्थापित किया गया है।

सरकार ने देश में ७२ औद्योगिक स्टेट स्थापित करने का निश्चय किया है, जिनका उद्देश्य छोटे उद्योगों को नगरों से हटाकर दूसरे स्थानों पर सगठित करना है।

प्रथम योजना के अन्तर्गत कुल ३३ ६ करोड़ रु० विभिन्न कुटीर धन्धों पर व्यय किया गया। द्वितीय योजना में इनके लिए २०० करोड़ रु० रखे गए हैं। इस योजना में अम्बर चर्खे के उपयोग पर जोर दिया गया है। तृतीय योजना में ग्राम्य एवं लघु उद्योगों के लिए २।। अरब रु० की 'प्रारम्भिक राशि' निर्धारित की गई है। विभिन्न ग्राम व लघु उद्योगों के लिए धनराशि इस प्रकार है—खादी ६२ करोड़, अम्बर खादी ३७ करोड़, बिजली कर्घे ४ करोड़, ग्रामोद्योग २० करोड़, हाथ कर्घे ३२ करोड़ रेशम कीट-पालन ७ करोड़, दस्तकारी ८ करोड़ और मूल ३ करोड़।

जून १९५५ में कर्वे (Karve) समिति नियुक्त की गई, जिसके सुझावों को मानकर सरकार एक पृथक् मन्त्रालय स्थापित करने के प्रश्न पर भी विचार कर रही है।

प्रश्न

१. १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय कुटीर उद्योग के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिये।

२. भारतीय अर्थ व्यवस्था में कुटीर धन्धों का क्या महत्व है ? कुटीर उद्योगों के विकास के लिए सरकार क्या कर रही है ?

अध्याय ११

श्रम सन्नियम

(Labour Legislation)

भारत में बड़े बड़े उद्योगों के स्थापित होने के पश्चात् भी बहुत समय तक कोई फैक्ट्री-एक्ट नहीं बनाया गया जिसके परिणामस्वरूप मिल मालिकों द्वारा श्रमिकों का शोषण बहुत होता था। श्रमिकों की इस अवनत दशा के कारण लोगों द्वारा सरकार की आलोचना होने लगी तथा बहुत से औद्योगिक संघर्ष हुए। इन सब बातों से प्रभावित होकर सरकार को समय समय पर श्रम सन्नियम बनाने पड़े। किसी भी देश का औद्योगिक उत्पादन श्रम-शक्ति पर निर्भर रहता है, अतः सरकार द्वारा मजदूरों के अधिकार की रक्षा के लिए नियम बनाना आवश्यक है। मिल मालिक अधिकतम लाभ के लिए मजदूरों से, कम मजदूरी देकर अधिक समय तक काम कराना चाहते हैं—उनके आराम या सुरक्षा पर कुछ व्यय नहीं करना चाहते। मजदूरों की कार्य-कुशलता का कुल उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। अतः मानवीय, सामाजिक व आर्थिक बातों के विचार से श्रम की सहायता करना आवश्यक है।

फैक्ट्री नियम

यह जानना आवश्यक है कि भारत सरकार ने जो प्रारम्भ में फैक्ट्री एक्ट पास किये, वे मजदूरों की दशा सुधारने के लिए नहीं, वरन् लंकाशायर के मिल मालिकों की स्थिति भारतीय पूंजीपतियों की अपेक्षा श्रेष्ठ करने के लिए किये गये थे। भारत में १८८१, १८९१, १९११, १९२२, १९३४ और १९४८ में फैक्ट्री नियम बनाये गये। इन नियमों का उद्देश्य यह था कि कारखानों में बच्चों को काम पर न लगाया जाय, काम करने के घण्टे सीमित हों, मजदूरी सहित सप्ताह में एक दिन की छुट्टी मिले और कारखानों में उनकी सुरक्षा तथा आराम का प्रबन्ध हो। धीरे धीरे इन नियमों द्वारा श्रमिकों की दशा में सुधार होने लगा। यहां हम सन् १९४८ के फैक्ट्री नियम की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करेंगे, जो निम्न प्रकार से हैं —

(१) क्षेत्रः— यह नियम ऐसे कारखानों पर जो शक्ति से चलते हैं और जहां १० या इससे अधिक मजदूर काम पर लगे हैं तथा जिसमें शक्ति से काम नहीं होता, किन्तु २० से अधिक मजदूर लगे हैं, लागू होता है। राज्य सरकार द्वारा यह नियम किसी भी फैक्ट्री पर लागू किया जा सकता है।

(२) आयु — १४ वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में काम पर नहीं लगाया जा सकता। १५ से १८ वर्ष की आयु के किशोर को डाक्टर के प्रमाणपत्र देने पर ही काम पर लगाया जा सकता है।

(३) कार्य करने के घण्टे — वयस्क मजदूरों के लिए कार्य करने के ४८ घन्टे प्रति सप्ताह तथा ८ घण्टे प्रतिदिन है, जिसमें ५ घण्टे बाद आधा घण्टे का विश्राम आवश्यक है। बालक तथा किशोर के लिये काय के घण्टे प्रतिदिन ४॥ है।

(४) स्त्री तथा बच्चों को सायकाल ७ बजे से प्रातःकाल ६ बजे तक काम पर नहीं लगा सकते। सप्ताह में एक १ दिन मजदूरी सहित छुट्टी की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त १२ महीने के निरन्तर काय के पश्चात् प्रत्येक वयस्क को प्रति २० दिन में १ दिन और प्रत्येक किशोर को प्रति १५ दिन में १ दिन सवैतनिक छुट्टी दी जायगी।

(५) काम करने की दशा —मजदूरों की स्वास्थ्य सुरक्षा तथा हित का प्रबन्ध प्रत्येक कारखाने में होना आवश्यक है। सफाई और प्रकाश के अतिरिक्त तापमान को नियन्त्रित रखने, पीने का पानी देने तथा स्नान व कपड़े धोने की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक व्यक्ति के कार्य करने के लिए समुचित स्थान देना आवश्यक है जिससे भीड़भाड़ न हो सके। मजदूरों की सुरक्षा के हेतु मशीनों के चारों ओर घेरा लगाना तथा आखों का विषैली गैसों से बचाव का प्रबन्ध भी अनिवार्य कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त शौचालय, हाथ धोने की सुविधा कैन्टीन विश्रामगृह, बच्चों के लिटाने के स्थान आदि श्रमकल्याण के कार्य तथा श्रमहित अधिकारियो की नियुक्ति का भी प्रबन्ध है।

नियम की विविध धाराओं के कारखानों द्वारा पालन किये जाने के लिए श्रम-निरीक्षकों की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है।

निम्नतम मजदूरी विधान, १९४८
(Minimum wages Act, 1948)

निम्नतम मजदूरी कानून का निर्माण उन उद्योगों के लिए किया गया है, जिनमें श्रम-संगठनों की कमजोरी के कारण मजदूरों को बहुत कम मजदूरी मिलती है। यह कानून चाय बागानों, तेल मिल, चावल मिल, आटा मिल, मोटर यातायात, चमड़ा-रंगाई-उद्योग आदि में लागू होता है। इसे कृषि उद्योग पर भी लागू किया जायगा। जिन उद्योगों में एक हजार से कम व्यक्ति काम करते हैं, उनमें निम्नतम मजदूरी का निर्धारण नहीं होगा।

राज्य सरकार स्वय किसी उद्योग के लिए निम्नतम मजदूरी की दरों का प्रस्ताव रख सकती है, अथवा एक कमेटी नियुक्त कर सकती है, जो उचित जाच करके मजदूरी की निम्नतम दरों के सम्बन्ध में सुझाव देगी। कमेटी की दरें गजट में प्रकाशित होंगी और प्रकाशित होने के ३ मास बाद लागू हो जावेंगी। इस प्रकार की दरें ५ वर्ष तक लागू रहेंगी, उसके बाद उनमें परिवर्तन होगा। परिवर्तन के लिए सरकार एक सलाहकार समिति नियुक्त करेगी

और यह समिति दरों में परिवर्तन के लिए सलाह देगी कि किस सीमा तक परिवर्तन होना चाहिए।

विभिन्न उद्योगों के लिए जो कमेटियां और बोर्ड नियुक्त होंगे, उनमें मालिकों और मजदूरों के प्रतिनिधि समान संख्या में रहेंगे और कुछ स्वतन्त्र सदस्य भी होंगे जो सदस्यों की कुल संख्या के एक तिहाई से अधिक न होंगे। सदस्यों की नियुक्ति सरकार द्वारा होगी और एक स्वतन्त्र सदस्य अध्यक्ष का कार्य करेगा।

निम्नतम मजदूरी या तो समय के अनुसार निश्चित की जा सकती है अथवा काम के अनुसार। स्त्रियों, और बच्चों के लिए अथवा विभिन्न प्रकार के कामों के लिए अथवा विभिन्न स्थानों के लिये निम्नतम मजदूरी की दरें भिन्न भिन्न हो सकती हैं।

कर्मचारी राज्य बीमा कानून, १९४८
(Employees State Insurance Act, 1948)

जिन कारखानों में २० या अधिक मजदूर काम करते हैं अथवा जो बिजली से चलते हैं, वे सब इस कानून के अन्तर्गत आ गये हैं। जिन मजदूरों का वेतन ४००) मासिक से अधिक है, उन पर यह कानून लागू नहीं होता। जो कारखाने पूरे वर्ष न चलकर केवल एक मौसम में चलते हैं, उन पर भी यह लागू नहीं होता। जो मजदूर इस कानून के अन्तर्गत बीमा किये जायँगे, उनके वेतन से नियमित रूप से चन्दा काटा जायगा। इस योजना से निम्नलिखित सुविधायें मिलेंगी —

(१) बीमारी के पहले दिन से मुफ्त में चिकित्सा होगी। यदि राज्य सरकार चाहे तो ये सुविधायें मजदूर के परिवार के लोगों को भी मिल सकती हैं।

(२) बीमारी के चौथे दिन से दैनिक औसत वेतन का आधा वेतन नकद मिलेगा। यदि बीमारी लम्बी है अथवा जल्दी जल्दी होती है तो इस तरह का आधा वेतन साल में आठ सप्ताह तक मिल सकता है। लेकिन इस भत्ते को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मजदूर ६ महीने तक चिकित्सा कोष में अपना चन्दा देता रहा हो अथवा कोष आरम्भ होने से २/३ समय तक का, जो १२ सप्ताह से कम न हो।

(३) अ गभग होने पर समुचित सहायता की व्यवस्था है। यदि कारखाने में काम करते समय मजदूर चोट खा जाता है और अ श रूप में या पूर्ण रूप में काम करने लायक नहीं रह जाता तो उसे मुफ्त चिकित्सा और नकद भत्ता मिलेगा। यदि कोई मजदूर काम करते समय मर जाता है तो उसके आश्रितों को कानून के अनुसार पेंशन या निर्वाह व्यय मिलेगा।

(४) स्त्री मजदूरों को गर्भकाल में १२ सप्ताह के लिए १२ आने प्रतिदिन के हिसाब से भत्ता मिलेगा। यह भत्ता बच्चा होने के ६ सप्ताह पहले और ६ सप्ताह बाद तक मिलेगा।

इस योजना का काम कर्मचारी राज्य बीमा निगम द्वारा चलाया जाता है। इसमें

१९५८ में केन्द्रीय श्रम मन्त्री ने कहा—' हम चाहते हैं कि द्वितीय पचवर्षीय योजना से कर्मचारी राज्य बीमा योजना प्रत्येक ऐसे औद्योगिक नगर में लागू हो जाय, जहां कम से कम १५०० श्रमिक रहते हों। इस प्रकार हम सारे राज्य में २२ लाख श्रमिकों को उक्त योजना में ले सकेंगे। "

कर्मचारी प्रोविडेन्ट फन्ड, १९५२

इस फंड के लिए सब मजदूरों के वेतन से ६ २० प्रतिशत काटा जायगा। फंड में जितना धन कर्मचारी देंगे, उतना ही मालिक भी देंगे। यह अधिनियम ५० से अधिक व्यक्तियों वाले कारखाना में और सीमेन्ट सिगरेट लोहा अथवा इस्पात से बने, बिजली सम्बन्धी, मशीनरी अथवा सामान्य इन्जीनियरिंग कागज और सूती वस्त्र की मिलों पर लागू होता है। दिसम्बर १९५६ में इस विधान में संशोधन करके सरकार को ये सुविधायें कारखानों के मजदूरों के अलावा अन्य श्रमिकों को भी देने का अधिकार मिल गया।

औद्योगिक संघर्ष सम्बन्धी विधान
(Industrial Disputes Act)

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद से औद्योगिक झगड़ों की संख्या में वृद्धि होती गई। भारत सरकार ने १९२६ में एक एक्ट पास किया जिसके अन्तर्गत प्रार्थना करने पर जांच अदालत तथा समझौता बोर्ड की नियुक्ति कर दी जाती थी, परन्तु इसका निर्णय दोनों पक्षों को मानना अनिवार्य नहीं था। अतः इस एक्ट से कुछ लाभ न हुआ। १९३८ में बम्बई सरकार ने एक कानून पास किया जिसके अनुसार हड़ताल या तालाबन्दी से पूर्व झगड़े की जांच होना अनिवार्य कर दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद तो देश में औद्योगिक अशान्ति की एक लहर सी दौड़ गई। ऐसी स्थिति में सरकार ने १९४७ में औद्योगिक संघर्ष एक्ट पास किया, जिसमें संशोधन १९४९, १९५० और १९५६ में किया गया। इस एक्ट के अन्तर्गत श्रम समितियां (श्रमिक व मिल मालिक के प्रतिनिधि) प्रत्येक ऐसे कारखाने में स्थापित की जायेंगी, जिसमें १०० या अधिक श्रमिक हैं। इसका उद्देश्य दोनों पक्षों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना होगा। इसके अतिरिक्त संघर्षों को रोकने व निपटाने के लिए समझौता अधिकारी, समझौता बोर्ड, जांच अदालत, औद्योगिक न्यायालय आदि की नियुक्ति की व्यवस्था है। सर्वजनिक उपयोगिता वाले उद्योगों में बिना ६ सप्ताह का नोटिस दिये हड़ताल अथवा तालेबन्दी करना गैरकानूनी कर दिया गया है।

"सन् १९५० के कानून के अनुसार एक श्रम अपील न्यायालय (Appellate Tribunal) नियुक्त करने का प्रबन्ध किया गया, जिसका निर्णय दोनों पक्षों को मान्य होगा। सन् १९५१ में एक श्रम सम्बन्ध एक्ट (Labour Relations Act) पास हुआ। जिसके अनुसार सरकार कई प्रकार के अफसर व न्यायालय स्थापित कर सकती थी, परन्तु इसका तीव्र विरोध हुआ और इसे काला विधेयक कहा गया। अन्तरिम सरकार की समाप्ति के साथ ही यह भी समाप्त हो गया।

औद्योगिक संघर्ष संशोधित एक्ट १९५६ के अनुसार अब ३ तरह के ट्रिब्यूनल नियुक्त किये जा सकते हैं:—

(१) श्रम अदालतः—इसका कार्य छोटे छोटे मामलों को सुलझाना होगा।

(२) औद्योगिक ट्रिब्यूनलः—यह मजदूरी तथा भत्ते, कार्य करने के घण्टे, छुट्टी, बोनस आदि महत्वपूर्ण मामलों को निपटाने का कार्य करेगी।

(३) राष्ट्रीय ट्रिब्यूनल :—इसको केन्द्रीय सरकार उन झगड़ों को सुलझाने के लिए स्थापित करेगी, जो राष्ट्रीय महत्व के हैं तथा जो एक से अधिक राज्यों पर प्रभाव डालते हैं।

भारत में आजकल औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिए त्रिगुट सम्मेलन, भारतीय श्रम कान्फ्रेंस तथा बहुत सी परामर्श देने वाली समितियां हैं, जिनके फलस्वरूप बहुत से झगड़े आपस में तय हो रहे हैं।

श्रमिक संघ अधिनियम
(Trade Union Act)

यद्यपि भारत में औद्योगिक विकास का प्रारम्भ हुए काफी समय हो चुका था, परन्तु ट्रेड यूनियनों का सगठन बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। जो कुछ भी श्रमिक संघ प्रारम्भ में बने उनका कोई मजबूत आधार नहीं था, वे अधिकतर हड़ताल कराने के लिए ही बनाये जाते थे। धीरे धीरे श्रमिक संघों की वृद्धि तथा औद्योगिक झगड़ों के बढ़ने से श्रम संघों को मान्यता देने पर जोर दिया जाने लगा। अन्त में सन् १९२६ में इण्डियन ट्रेड यूनियन कानून बना जिसमें समय समय पर संशोधन हुए।

इस कानून के अन्तर्गत मजदूरों और मालिकों के सगठन की रजिस्ट्री के लिए कोई भी ७ व्यक्ति सरकार को प्रार्थना कर सकते हैं। ऐसी यूनियन का एक संविधान होना चाहिये और उसकी कार्यकारिणी के कम से कम आधे सदस्य कारखाने या उद्योग में काम करते हों। उसे अपनी आय-व्यय का वार्षिक हिसाब रखना पड़ता है और वह अपना धन राजनैतिक कार्यों के लिए व्यय नहीं कर सकती। इस कार्य के लिए एक अलग कोष स्थापित हो सकता है, जिसमें सदस्य इच्छानुसार चन्दा देंगे। यूनियन के वैधानिक कार्यों के लिए उस पर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

सन् १९४७ के संशोधन द्वारा रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियनों को निजि मालिकों द्वारा मान्यता देना अनिवार्य कर दिया गया है। मान्यता न देने पर श्रम-अदालत से मान्यता का प्रमाण-पत्र लिया जा सकता है। सन् १९५१ के ट्रेड यूनियन बिल के अनुसार मालिक मिलकर अधिकृत एजेन्टों द्वारा सौदा तय कर सकते थे, परन्तु मालिक तथा मजदूर दोनों के द्वारा ही तीव्र विरोध होने के कारण इस बिल को समाप्त होने दिया गया।

प्रश्न

(१) भारतीय फैक्ट्री एक्ट का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
(२) भारत में श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा के तत्वों का वर्णन कीजिए।
(३) भारतमें औद्योगिक संघर्षोंको रोक और निपटारे के लिए क्या प्रयत्न किए गए हैं?
(४) श्रम संघ कानून की विविध धाराओं का वर्णन करिए।

अध्याय १२

यातायात में विकास

किसी भी देश के आर्थिक विकास का उसके परिवहन की व्यवस्था से बड़ा निकट सम्बन्ध रहता है। यातायात ने हमारे आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों में विशेष प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी है यातायात के साधन माल और मनुष्यों को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के साथ साथ ही सभ्यता, संस्कृति तथा शिक्षा का प्रसार करते हैं। किसी देश के यातायात के साधनों की उन्नति से उस देश के आर्थिक विकास का पता लगाया जा सकता है। यातायात ने समय और दूरी की कठिनाइयों को पार कर सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक, सभ्यता, धर्म और शिक्षा का नया संसार स्थापित कर दिया है। यह कहा गया है कि "यदि कृषि तथा उद्योग को किसी राष्ट्र का शरीर और अस्थियां माना जाय तो यातायात के साधन स्नायु-जाल के समान होगा।"

भारत में मुख्यकर यातायात के विकास के कारण आन्तरिक और विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई, अकाल की भीषणता कम हुई तथा देश एकसूत्र में बँध गया। सन् १८५० तक देश में सड़कों का नितान्त अभाव था। ब्रिटिश व्यापार को बढ़ाने तथा प्रशासन को संगठित करने के उद्देश्य से ही हमारे देश में यातायात के साधनों का विकास आरम्भ में किया था। परन्तु अब औद्योगिक उन्नति के लिये विविध साधनों का विकास किया जा रहा है।

यातायात के मुख्य साधन ३ हैं :—

(१) स्थल यातायात (रेलें तथा सड़कें)

(२) जल मार्ग (आन्तरिक व सामुद्रिक)

(३) वायु मार्ग (आन्तरिक और बाहरी)

रेल्वे यातायात का महत्व

सामाजिक:— (१) रेलों से समय, दूरी, चोरी-डकैती आदि की समस्याएं दूर हो गई हैं।

(२) रेलों ने नगरों तथा गावों में सम्बन्ध स्थापित कर लोगों में पारस्परिक विचार-विनिमय व सामाजिक व्यवहार को प्रोत्साहन दिया।

(३) रेलों द्वारा छुआछूत, अंध विश्वास, घृणा आदि का लोप होता जा रहा है।

(४) रेलों के द्वारा विज्ञापन, समाचार पत्र, स्वच्छता, स्वास्थ्य सम्बन्ध बातें आदि का प्रचार सुगमतापूर्वक हुआ है।

राजनैतिक — (१) रेलों द्वारा भारत में शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना सम्भव हुई, राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हुई तथा देश का सुशासन, सैनिक रक्षा आदि कार्य हुए।

(२) रेलों के निर्माण के कारण राज्य को आर्थिक कार्यों में भाग लेना पड़ा।

(३) रेलो द्वारा राज्य की आय में वृद्धि हुई, क्योंकि अधिकांश रेलें राज्य की सम्पत्ति हैं।

आर्थिक — आर्थिक क्षेत्र में रेलों ने कृषि, उद्योग, व्यापार तथा श्रमिकों को प्रभावित किया है।

कृषि — (१) रेलों द्वारा हमारे खेतों की उपज विदेशों को जाने लगी, जैसे जूट, चाय, तिलहन आदि। इसके साथ ही हमारी मण्डियों का विस्तार बढ़ गया।

(२) रेलों के विकास से ही किसानों को उन्नत बीज, खाद व मशीनें उपलब्ध होने लगी।

(३) रेलों द्वारा स्थानीय उत्पादन में वृद्धि हुई—मुख्यकर शाक-सब्जी, दूध मक्खन, फल आदि में।

(४) रेलों द्वारा अकाल का भय बहुत कम हो गया, परन्तु यह माना जाता है कि रेलों से वास्तव में कृषि की उन्नति नहीं हुई। फसलों के विशिष्टीकरण और स्थानीयकरण के कारण यदि किसी फसल में वृद्धि हुई तो दूसरी में कमी। रेलों द्वारा हमारे पुराने कुटीर धन्धों का विनाश हुआ और भूमि पर अधिक जनसंख्या का भार बढ़ा।

रेलों द्वारा स्लीपर व डिब्बों के लिये लकड़ी की मांग बढ़ी और इस प्रकार वनों का विनाश हुआ।

उद्योग:— (१) रेलों द्वारा उद्योगों को श्रम, कोयला तथा कच्चा माल शीघ्रता से पहुँचने लगा, जिससे देश में बड़े बड़े कारखाने स्थापित होने लगे।

(२) रेलों से ही उद्योगों द्वारा तैयार माल दूर दूर के स्थानों को भेजा जाने लगा, जिससे औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होने लगी।

(३) रेलों ने मूल्यों पर भी प्रभाव डाला। वस्तुएँ एक स्थान से सस्ती लाकर दूसरे स्थान पर बेची जाने लगी।

(४) रेलों द्वारा बेकार मनुष्यों को काम मिला तथा मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर काम करने लगे।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रेलों का हमारे देश की आर्थिक व सामाजिक दशा में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है।

भारत में रेलों का विकास

भारत में रेलों का विकास सन् १८४४ से आरम्भ हुआ, जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ईस्ट इन्डियन रेल्वे क० तथा ग्रेट इण्डियन पेनिनशुलर रल्वे कम्पनी को दो रेल्वे लाइन के निर्माण की स्वीकृति दी। प्राइवेट कम्पनियों को पुरानी प्रणाली के अन्तर्गत रेलों के निर्माण का अधिकार दिया गया, जिसके द्वारा सरकार ने ५ प्रतिशत ब्याज की गारन्टी दी तथा विशेष मामलों में देखभाल करने का अधिकार सरकार ने अपने हाथ रखा। सन् १८६६ के बाद १० वर्षों तक सरकार ने स्वय रेलें निर्माण करने का प्रयत्न किया, परन्तु सफलता नहीं मिली। अत सरकार ने ब्रिटिश कम्पनियों को नई गारन्टी पर रेलें बनाने का ठेका दे दिया। नई प्रणाली के अन्तर्गत ३॥ प्रतिशत ब्याज की गारन्टी दी गई और रेलें सरकार की सम्पत्ति घोषित कर दी गई।

सन् १९०८ में मैके समिति ने रेलों पर सरकार द्वारा अधिक व्यय करने पर जोर दिया। प्रथम महायुद्ध के समय रेलों पर अधिक कार्य रहा। सन् १९२०-२१ में रेलों की समस्याओं पर विचार करने के लिये आकवर्थ समिति (Aokworth Committee) की नियुक्ति की गई जिसने यह सिफारिश की कि सरकार रेलो का प्रबन्ध अपने हाथ में ले ले तथा रेल्वे बजट सामान्य बजट से पृथक कर दिया जाय। सरकार ने सुझावों को मानते हुए रेलों का प्रबन्ध अपने अधीन करना आरम्भ कर दिया और सन् १९२४ से रेल्वे बजट अलग से पेश किया जाने लगा।

रेलों ने सन् १९०० से सर्वप्रथम लाभ कमाना शुरू कर दिया था परन्तु सन् १९२६ के विश्व मन्दी के कारण रेलो को भारी हानि उठानी पड़ी। इस समय पोप समिति तथा वेजवुड समिति नियुक्त की गई, जिन्होंने की आर्थिक स्थिति सुधारने तथा उनकी कार्यक्षमता बढ़ाने के सुझाव दिये।

द्वितीय महायुद्ध के समय रेलों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी, परन्तु युद्ध के बढ़ने के साथ साथ यातायात का अधिक से अधिक भार रेलों पर पड़ने लगा और जनता के लिए डिब्बों का अभाव होने लगा। सन १९४२ में युद्ध यातायात समिति तथा केन्द्रीय यातायात संघ की स्थापना की गई। इनका कार्य यातायात के दूसरे साधनो का विकास करना था, जिससे रेलों पर भार कम हो जाय।

सन् १९४७ में देश के विभाजन के फलस्वरूप रेलों को काफी हानि उठानी पड़ी। सन् १९४६ तक रेलों की दशा में पर्याप्त सुधार हुआ और यात्रियों की सुविधा के प्रयत्न किये गये। सन् १९५० तक सरकार के अधीन लगभग सभी रेलें आ गई। इस समय रेलों की कार्यक्षमता बढ़ाने तथा व्यय में कमी करने के उद्देश्य से सम्पूर्ण रेल्वे व्यवस्था को कुछ बड़े वर्गों में बांटा गया। ये वर्ग निम्न प्रकार से हैं —

(१) उत्तरी रेल्वे — उसका १४ अप्रेल, १९५२ को निर्माण किया गया।

इसमें ई० आई० आर० का पश्चिमी भाग, ई० पी० रेल्वे, बी० बी० एण्ड सी० आई० आर० की आगरा, कानपुर लाईन तथा अवध-तिरहुत रेल्वे सम्मिलित की गई।

(२) पश्चिमी रेलवे:— यह ५ नवम्बर, १६५१ को बनी। इसमें बी० बी० एण्ड सी० आई० आर०, सौराष्ट्र, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, राजस्थान और कच्छ राज्य की रेलें हैं।

(३) मध्य रेल्वे:— इसको भी ५ नवम्बर, सन १६५१ को निर्मित किया गया। इसमें बी० बी० एण्ड सी० आई० आर० की मार्टगेज भाग, जी० आई० पी० आर० सिंधिया, धौलपुर और निज़ाम राज्य की रेलें मिलाई गईं।

(४) दक्षिणी रेलवे:— यह १४ अप्रैल, १६५१ को बनी। इसमें एम० एण्ड एस० एम० रेलवे, मैसूर रेलवे तथा दक्षिण भारत की रेलें सम्मिलित हैं।

(५) उत्तरी-पूर्वी रेलवे:— यह १४ अप्रैल, १६५२ को बनाई गई। इसमें लखनऊ, कानपुर से पूर्व की ई० आई० रेल्वे, छपरा से पूर्व अवध-तिरहुत रेल्वे शामिल हैं।

(६) पूर्वी रेल्वे:— इसका निर्माण १ अप्रैल, १६५५ को हुआ। इसमें तीन डिवीजन को छोड़कर समस्त ईस्ट इण्डियन रेल्वे है।

(७) दक्षिणी-पूर्वी:— यह भी १ अगस्त, १६५५ को बनाई गई। इसमें बंगाल नागपुर रेलवे शामिल है।

(८) उत्तरी पूर्वी सीमा रेल्वे:— इसका जन्म १५ जनवरी, १६५८ को हुआ। इसमें असम रेल्वे सम्मिलित है।

रेलों के पुनर्वर्गीकरण (Regrouping of Railways) के लाभ

रेलों के इस पुनर्वर्गीकरण से भारतीय रेलों की कार्यकुशलता बढ़ी है तथा व्यय में कमी हुई है। अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में रेलों को बड़े बड़े भागों में बांटा गया है, जिससे रेलों में अभूतपूर्व उन्नति हुई है।

रेलों का प्रशासन सर्वप्रथम पी० डब्लु० डी० के अन्तर्गत होता था परन्तु सन् १६०५ में रेलों के प्रबन्ध के लिए एक रेल्वे बोर्ड बनाया गया। सन् १६२६ में आकवर्थ समिति की सिफारिश के अनुसार रेलवे किराया परामर्श समिति की नियुक्ति की। सन् १६४६ में एक रेलवे किराया परिषद (Railway Rates Tribunal) की स्थापना की गई, जो अनुचित रेल किराया की दरों के सम्बन्ध में शिकायतें सुन सके।

प्रथम योजना के अन्तर्गत रेलों के लिए ४०० करोड़ रु० रखे गये थे, परन्तु वास्तव में ४२३.७३ करोड़ रु० खर्च हुआ। इस समय रेल्वे इंजिन तथा डिब्बे बनाने के भी प्रयत्न सफल रहे। चितरंजन तथा टाटा के कारखानों द्वारा इंजिन बनाने का काम सुचारु रूप से आरम्भ हुआ तथा मद्रास के निकट पेराम्बूर कोच फैक्ट्री द्वारा डिब्बे निर्मित किये जाने लगे।

द्वितीय योजना में ११२५ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान किया गया। देश में इस समय ३५,००० मील लम्बी रेलें हैं। परन्तु फिर भी रेलों की अत्यधिक कमी है। रेलों में अधिक भीड़ तथा माल के बुकिंग कराने में अत्यधिक कठिनाई उठानी पड़ती है। विदेशी विनिमय के अभाव तथा दूसरे और आवश्यक कार्यों के कारण नई रेलवे लाइन बनने में कठिनाइयां उपस्थित हुई हैं। अभी यही कहा जा सकता है कि ये कठिनाइयां भविष्य में भी बनी रहेंगी।

सड़क यातायात

भारत में यातायात के साधनों में सड़कों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत मुख्यकर ग्रामों का देश है, अतः शहरों तथा गावों को मण्डियों के साथ मिलाने के लिए सड़क ही एक सस्ता तथा सुगम यातायात का साधन है। किन्तु यह दुःख का विषय है कि इतना होते हुए भी भारत में सड़कों का पर्याप्त विकास नहीं हो सका। १६वीं सदी के मध्य तक सड़कों की बहुत कमी थी। सन् १८५४ में केन्द्र तथा प्रान्तों में सार्वजनिक निर्माण विभाग की स्थापना हुई। अंग्रेजी शासनकाल में भारत में बहुत सड़कें बनीं। सड़क विकास के लिए सरकार ने सन् १६२७ में एक सड़क विकास कमेटी की नियुक्ति की, जिसे Jayaker Committee कहते हैं। इस समिति ने यह सुझाव दिया कि पेट्रोल पर दो आना प्रति गैलन से कर लगाया जाय और इसकी आय को एक सड़क विकास कोष में जमा किया जाय। सरकार ने इस सिफारिश को मानते हुए सन् १६३४ में सड़क विकास कोष को स्थायी कर दिया।

सन् १६४३ में भारत सरकार ने सड़क विकास पर विचार-विमर्श करने के लिए नागपुर में एक सम्मेलन बुलाया, जिसने सड़क विकास के लिए १० वर्षीय योजना बनाई, जिसे नागपुर योजना (Nagpur Plan) कहते हैं। इस योजना ने सड़कों को तीन वर्गों में बांटा है :—

(१) राष्ट्रीय मार्ग :—ये ग्रांड ट्रंक सड़कों के अनुसार रहेंगे तथा राज्यों की राजधानी और बन्दरगाहों को मिलायेंगे। इनके निर्माण और देखभाल का उत्तरदायित्व भारत सरकार के अधीन होगा।

(२) राज्य मार्ग —ये मार्ग राज्य में व्यापार के मुख्य केन्द्रों को जोड़ेंगे और इनका आर्थिक उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर होगा।

(३) जिला और ग्राम्य सड़कें :—जिले के महत्वपूर्ण स्थानों को रेलों तथा अन्य राष्ट्रीय मार्गों से जोड़ेंगी। इनकी जिम्मेदारी स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं (म्युनिसिपल बोर्ड तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड) के पास रहेगी। ग्राम्य सड़कें अधिकतर कच्ची होती हैं, जो गावों को मण्डियों से जोड़ती हैं। इनका उत्तरदायित्व ग्राम्य पंचायत पर होता है।

इस योजना का लक्ष्य यह था कि विकसित कृषि क्षेत्र में कोई भी गाव मुख्य सड़क से ५ मील से अधिक दूरी पर नहीं रहे।

वित्त सम्बन्धी कठिनाइयों तथा बाद में देश के विभाजन के कारण नागपुर योजना का महत्व समाप्त हो गया।

प्रथम योजनाकाल में सड़कों के विकास के लिए कुल व्यय १५५ करोड़ रु० का हुआ। इस योजना के अन्त तक हमारे देश में सड़कों की कुल लम्बाई ३,२०,००० मील थी। द्वितीय योजना में सड़क कार्यक्रम के लिए कुल २४१ करोड़ रु० की राशि निर्धारित की गई थी। आशा है कि इस योजना के अन्त तक १८०० मील लम्बी नई सड़कें बन जायेंगी। इस समय आर्थिक व सुरक्षा के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण सड़कों पर विशेष बल दिया जा रहा है।

मोटर यातायात

मोटरें सड़क यातायात के सर्वोत्तम साधन हैं। इनके द्वारा मनुष्य और माल को शीघ्रता से पहुँचाया जा सकता है। परन्तु हमारे देश के आकार और जनसंख्या को देखते हुए मोटरों की संख्या बहुत कम है। भारत में प्रति १३५० व्यक्तियों के पीछे एक मोटर है, जबकि अमेरिका में ३ व्यक्तियों के पीछे १ तथा इंगलैंड में १५ के लिए १ है।

मोटरों की संख्या की इस कमी के कारण मोटर यातायात बहुत समय तक असंगठित रहा और रेलों के साथ अत्यधिक प्रतियोगिता करने लगीं, जिससे रेलों को बहुत हानि उठानी पड़ी।

रेल–सड़क प्रतियोगिता

सन् १९३२ में रेल–सड़क प्रतियोगिता की जाँच के लिए मिचल कर्कनैस समिति नियुक्त हुई। इसने मोटर यातायात प्रतिबन्ध के लिए उपयुक्त सुझाव दिये। सन १९३७ में वैजवुड समिति ने मोटर परिवहन की अनुचित प्रतियोगिता से रेलों की रक्षा के लिए सुझाव दिये।

अतः १९३९ में मोटरगाड़ी अधिनियम पास हुआ। इसके अनुसार मोटरों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गए, जैसे—लाइसेंस लेना, मोटर में सवारियों की निश्चित संख्या होना, नियत समय तथा काम करने के घण्टे पालन करना, बीमा कराना आदि प्रमुख हैं।

रेल–सड़क समन्वय
(Rail Road Coordination)

मोटर यातायात का नियन्त्रण करना ही देश के आर्थिक विकास में पर्याप्त नहीं है। इसके साथ ही यह आवश्यक है कि मोटर परिवहन का इस प्रकार विकास हो कि यह रेलों के साथ प्रतियोगिता करने के स्थान पर उनके लिए पूरक सिद्ध हों। सड़कों को रेलों के समानान्तर चलाने की अपेक्षा उनका इस प्रकार निर्माण किया जाय कि वे आन्तरिक भागों में जहां रेलें नहीं हैं, सामान तथा यात्रियों के आवागमन का प्रबन्ध करें।

दूसरी ओर रेल और सड़क के क्षेत्रों को सीमित किया जाना आवश्यक है। रेलों

का क्षेत्र अधिक बोझिल और दूरी के आवागमन के लिए अधिक उपयुक्त है, जबकि मोटर का क्षेत्र मध्यम बोझों और कम दूरी तथा शीघ्र खराब होने वाली वस्तुओं के लिए।

समानान्तर चलने वाली सड़कों के लिए यह सुझाव दिया गया है कि सड़क परिवहन का स्वामित्व त्रिदलीय हो (i) निजी स्वामी (ii) राज्य सरकार, (iii) रेलें। इस दृष्टिकोण को अपनाते हुए कुछ राज्यों ने इस ओर कार्य किया है। अप्रैल, १९५९ में सरकार ने एक रेल-सड़क संयोजन समिति नियुक्त की, जो रेल-सड़क यातायात में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए सुझाव देगी।

देश के औद्योगिक विकास में यातायात के विभिन्न साधनों का उन्नत होना आवश्यक है। रेल-सड़क समन्वय ही नहीं, परन्तु समस्त यातायात के साधनों में सामञ्जस्य होना आवश्यक है। सड़क परिवहन निगम १९५० के अधिनियम के द्वारा यह आशा की जा सकती है कि रेल तथा सड़क यातायात में परस्पर अधिक समन्वय सम्भव हो सकेगा।

मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण

रेल-सड़क प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए कुछ वर्षों से सरकार ने मोटर परिवहन का राष्ट्रीयकरण करने की नीति अपनाई है। अधिकांश राज्यों ने सड़क यातायात का आंशिक राष्ट्रीयकरण कर दिया है।

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में यह कहा गया है कि इससे कार्यक्षमता बढ़ेगी, यात्रियों को सुविधायें मिलेंगी, कर्मचारियों की दशा में सुधार होगा, व्यय में कमी होगी और सरकार की अतिरिक्त आय होगी।

परन्तु वास्तव में जिन राज्यों में राष्ट्रीयकरण हो चुका है जैसे बम्बई, यू. पी., दिल्ली आदि में वहां ये सब आशाएं फलीभूत नहीं हुई हैं। अतः योजना आयोग ने यह सुझाव दिया है कि सड़क परिवहन राष्ट्रीयकरण की धीमी गति हो और १९५० के अधिनियम के अन्तर्गत निगमों की स्थापना की जाय।

जल-यातायात

यातायात के साधनों में जल यातायात बहुत प्राचीन तथा सस्ता है। यह भारी बोझे के हल्के मूल्य वाले सामान को ढोने में अत्यधिक उपयुक्त है, जैसे कोयला, लकड़ी तथा कच्चा माल। इसके साथ ही सुरक्षा के लिए एक सुदृढ़ जहाजी बेड़े की अत्यन्त आवश्यकता है।

आन्तरिक जल-मार्ग

हमारे देश का विशाल क्षेत्रफल होते हुए भी आन्तरिक जल मार्गों का विशेष विकास नहीं किया गया है।

भारत में इस समय २०,००० मील लम्बे जल-मार्ग हैं, जिनमें ८००० मील नदियों के तथा शेष १२,००० मील नहरों के। इन नदियों में ३००० मील तक नाव चल सकती हैं और नहरों के उन्नत होने पर उनमें स्टीमर तथा नावें चल सकती हैं।

सरकार अब जल-मार्गों के विकास में और अधिक प्रयत्नशील है। सन् १९४५ में केंद्रीय जल-मार्ग सिंचाई तथा नौकावाहन आयोग स्थापित किया गया, जिसका नाम बाद में केंद्रीय जल-विद्युत आयोग रखा गया। बहुउद्देश्यीय नदी-घाटी योजनाओं में नौकावाहन को समुचित स्थान दिया गया है। सन् १९५२ में गंगा ब्रह्मपुत्र जल-परिवहन मण्डल की स्थापना की गई। केन्द्रीय सरकार इस बोर्ड के लिये २ लाख रु० प्रति वर्ष की राशि देती है।

द्वितीय योजना में ३४० लाख रु० की राशि निर्धारित की गई है, जिसमें से ११५ लाख रु० बकिंघम नहर, ४३ लाख रु० पश्चिमी तट की नहरों के लिये तथा शेष गंगा-ब्रह्मपुत्र बोर्ड की योजनाओं के लिये है। इस विकास के कार्यक्रमों में जल-मार्गों को गहरा करना, रेडियो, टेलीफोन सिगनल की व्यवस्था करना आदि मुख्य हैं। इन सब पर दृष्टिपात करने से यह आशा की जा सकती है कि हमारे आन्तरिक जल-मार्गों का फिर से भविष्य उज्ज्वल हो जायगा।

समुद्रीय यातायात

भारत में ३५३५ मील का विशाल समुद्रतट है और यह पूर्व तथा पश्चिम दोनों ओर के व्यापार मार्ग में स्थित है। प्राचीनकाल में हमारा देश समुद्रीय यातायात में बहुत उन्नत था, परन्तु स्टीम शिप्स के आविष्कार से भारतीय जहाजों की महत्वपूर्ण स्थिति समाप्त हो गई। अंग्रेजी कम्पनियों ने भारत के तटीय तथा समुद्रीय व्यापार में एकाधिकार प्राप्त कर लिया था। इन कम्पनियों ने भारतीय जहाजी कम्पनियों से प्रतियोगिता करने के लिए भाड़े कम करने की नीति अपनाई।

सन् १८७३ में इण्डियन मरकेन्टाइल तथा मैरिन समिति ने तटीय व्यापार को भारतीय जहाजों के लिये सुरक्षित रखने का सुझाव दिया, परन्तु सरकार ने इसे अस्वीकृत कर दिया। सन् १९२८ में श्री हाजी ने तटीय व्यापार को भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित रखने के आशय का एक बिल पेश किया, परन्तु उसे भी सरकार ने नहीं माना। सन् १९३७में सर गजनवी ने समुद्रीय यातायात में सुधार के हेतु एक बिल का प्रस्ताव किया, परन्तु सरकार के कानों तक जूं तक न रेंगी।

द्वितीय महायुद्ध के समय जहाजों की कमी अनुभव हुई और भारतीय जहाजों के विकास के लिये एक राष्ट्रीय नीति की आवश्यकता हुई। इस कारण सन् १९४५ में पुन-र्निर्माण नीति उपसमिति नियुक्त की गई जिसने १९४७ में अपनी रिपोर्ट दी। इस समिति ने सिफारिश की कि भारत को अपने तटीय व्यापार का १०० प्रतिशत, बर्मा व पड़ौसी राज्यों से व्यापार का ७५ प्रतिशत तथा अन्य दूर के देशों से व्यापार का ५० प्रतिशत अपनाना चाहिये। सरकार के इस सुझाव को मानने के बाद भारतीय जहाजी व्यापार की काफी उन्नति हुई।

१९५० से तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिये सुरक्षित कर दिया गया और अब लगभग सारा तटीय व्यापार भारतीय जहाजों द्वारा ही होता है। भारतीय जहाजोंने दूर देशों के

व्यापार में भी भाग लेना आरम्भ कर दिया है। जहाज निर्माण का प्रमुख केन्द्र विशाखापट्नम् है जो भारत सरकार के अधीन है। सन् १९४७ में सरकार ने प्रति निगम दस करोड़ की पूंजी से तीन जहाजी निगम स्थापित करने की घोषणा की, जिसमें से १९५२ में ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन की स्थापना की गई। इसका क्षेत्र आस्ट्रेलिया और सुदूरपूर्व निश्चित किया गया है। सन् १९५६ में एक पश्चिमी जहाजी निगम की भी स्थापना हुई, जिसका क्षेत्र लाल सागर, फारस की खाड़ी, पोलैंड तथा रूस है।

प्रथम योजना में जहाजों के लिए २६ ३ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी जिसमें से योजना के अन्त तक १८ करोड़ रु० व्यय हुआ। शेष ८ करोड़ रु० द्वितीय योजना में काम में लिया गया। योजनाकाल में जहाजी बेड़े में २,१५,००० टन वृद्धि करना था जिससे योजना के अन्त तक कुल भार ६ लाख टन हो जाये। इस योजना में जहाजों के लिए ३७ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त प्रयोजना के शेष ८ करोड़ रु० भी काम में लाये जायेंगे। जहाजी मामलों की देखभाल करने के लिए एक जहाजी सचालक नियुक्त किया गया है। १९५९ में जलमार्ग-विकास के सम्बन्ध में परामर्श देने हेतु राष्ट्रीय जलपोत मण्डल की भी स्थापना की गई है।

वायु यातायात

यह यातायात का सबसे तीव्र गति का साधन है। इसकी उन्नति विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हुई। भारत में सर्वप्रथम १९११ में उड़ान आरम्भ हुई और प्रथम महायुद्ध में कुछ प्रगति हुई। १९२७ में नागरिक उड्डयन विभाग खोला गया और १९२८ में विभिन्न नगरों में फ्लाइंग क्लब स्थापित हुए। १९२९ में दिल्ली लन्दन का वायु मार्ग द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया गया। सन् १९३२ में टाटा एयर लाइन और १९३३ में इण्डियन नेशनल एयरवेज की स्थापना हुई। द्वितीय महायुद्ध के समय हवाई यातायात की अधिक उन्नति हुई। सन् १९४६ में हवाई यातायात लाइसेंसिंग बोर्ड स्थापित किया गया। इस बोर्ड ने अनियमित रूप में वायुयान कम्पनियों को लाइसेंस दिये, जिससे उनमें अनुचित प्रतियोगिता होने लगी और बहुत सी कम्पनियों को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी।

सन् १९५१ में एक वायु यातायात जाच समिति नियुक्त की गई, जिसने वायुयान समितियों की सख्या में कमी करने उनका पुन सगठन करने और अन्य सहायता देने के सुझाव दिये। परन्तु फिर भी वायु यातायात में अव्यवस्था बनी रही। अत सरकार ने सन् १९५३ में एयर कार्पोरेशन एक्ट पास किया, जिसके अनुसार दो कार्पोरेशन स्थापित किये गए—(१) इण्डियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन देश की आन्तरिक हवाई सेवाओं की व्यवस्था के लिए और (२) एयर इण्डिया इन्टरनेशनल विदेशी हवाई सेवाओं के लिए। इन दोनों के कार्य में समन्वय स्थापित करने के लिए एक वायु यातायात सभा भी स्थापित की गई।

हवाई सेवाओं का नवीनीकरण और सस्ती हवाई सेवाएं प्रदान करने के लिए वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण किया गया।

प्रथम योजना के अन्तर्गत वायु यातायात के लिए ६.५ करोड़ रु० रखे गए थे। दूसरी योजना में १६ करोड़ रु० इण्डियन एयर लाइन्स कार्पोरेशन के लिए तथा १४.५ करोड़ रु० एयर इण्डिया इन्टरनेशनल के लिए निर्धारित किये गए थे।

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् वायु सेवाओं में बहुत उन्नति हुई है। डाक और यात्रियों के लिए बहुत सी सुविधाएं दी गई हैं और सेवाओं का विभिन्न दिशाओं में विकास हो रहा है।

प्रश्न

१ भारत में यातायात के विभिन्न साधनों की महत्ता बताइये।
२. भारत में रेलों के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिये।
३. रेलों के लाभ और हानि का वर्णन करिये।
४. भारत में सड़क यातायात का महत्व तथा वर्तमान स्थिति बताइये।
५. सड़क-रेल परिवहन समन्वय के लिए अपने सुझाव दीजिए।
६. भारत में आन्तरिक जल यातायात के विकास के प्रयत्नों का वर्णन करिये।
७. भारत में समुद्री यातायात को उन्नत करने के लिए सरकार ने क्या कदम उठाये हैं?
८. भारतीय वायु यातायात के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिये। उसकी वर्तमान स्थिति क्या है?

अध्याय १३

भारतीय प्रशुल्क नीति
(Indian Tariff Policy)

किसी भी देश का विदेशी व्यापार वहा की व्यापार नीति पर निर्भर रहता है। १६वी सदी के मध्य से इगलैंड ने उन्मुक्त व्यापार नीति (Free Trade Policy or Laissez Faire Policy) अपनाई थी। इस प्रकार उस समय विदेशी व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप वाछनीय नहीं समझा गया और अबाध व्यापार का युग कहा गया। इगलैंड के अनुसार ही भारत में यही नीति अपनाई गई अर्थात् निर्यात-आयात व्यापार पर कोई ड्यूटी नहीं लगाई गई।

प्रथम महायुद्ध के समय सरकार का ध्यान देश के उद्योग-धन्धों के विकास की ओर गया। १६१६ के औद्योगिक कमीशन ने देश में उद्योगों के विकास की सिफारिश की। यह तब ही सम्भव हो सकता था, जब सरकार सरक्षण की नीति ग्रहण करे। सन् १६२२ में एक तटकर आयोग की स्थापना हुई, जिसने सरक्षण नीति अपनाने की सिफारिश की। इस नीति के अनुसार उद्योगों को विवेचनात्मक सरक्षण दिया जायेगा। इस सिफारिश को स्वीकार करके सरकार ने १६२३ में एक तटकर बोर्ड (Tariff Board) नियुक्त किया, जिसका कार्य सरक्षण के लिए प्रार्थी उद्योग की जाच कर उचित सिफारिश करना था। उद्योग को सरक्षण निम्नलिखित तीन शर्तों के पूरा करने पर ही दिया जा सकता था —

(१) जिस उद्योग के पास प्राकृतिक सुविधाए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों, जैसे कच्चा माल, शक्ति श्रम तथा बाजार।

(२) जिस उद्योग की उन्नति बिना सरक्षण के नहीं हो सके।

(३) जो उद्योग बाद में सरक्षण के बिना अपने पाव पर खड़ा हो सके अर्थात् विश्व बाजार में प्रतियोगिता का सामना कर सके।

इन तीन मुख्य शर्तों के अतिरिक्त आयोग ने कुछ अन्य बातों पर भी प्रकाश डाला, जैसे सरक्षणता देते समय प्राथमिकता उन उद्योगों को दी जाय जो बडी मात्रा में उत्पादन कम व्यय में करते हों, जो राष्ट्रीय सुरक्षा के हो, जो देश की समस्त आवश्यकता की पूर्ति कम समय में कर सकें और जिन उद्योगों को विदेशी उद्योगों की हानिकारक प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता हो।

टटवर आयोग की इस तीनहरी योजना (Triple Formulae) की कड़ी आलोचना की गई और कहा गया कि इस प्रकार नये उद्योगों का विकास देश में नहीं हो सकेगा। विवेचनात्मक संरक्षण नीति (Discriminating Protection Policy) की तीन शर्तें कड़ी बताई गई, जिनका पालन करना उद्योगों के लिए सम्भव नहीं हो सकता। फिर भी सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और टटकर बोर्ड की जाँच के बाद लोहे तथा इस्पात, सूती वस्त्र, कागज, दियासलाई, चीनी, भारी रासायनिकों के उद्योगों को संरक्षण दिया गया और कोयला, सीमेंट, काँच और तेल के उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के समय नये नये उद्योगों की स्थापना हुई और सरकार ने आश्वासन दिया कि युद्ध के पश्चात् इन उद्योगों को संरक्षण दिया जा सकेगा। ३ नवम्बर, १९४५ को सरकार ने दो वर्ष के लिए एक टटकर बोर्ड नियुक्त किया, जिसका उद्देश्य संरक्षण देने के लिए सरकार को सुझाव देना था संरक्षण प्राप्त करने के लिए तीन नयी शर्तें बताई गईं :—

(१) जो उद्योग दृढ़ व्यापारिक आधार पर स्थित हों।

(२) जिस उद्योग की उचित समय में विकास की सम्भावना हो।

(३) जो उद्योग राष्ट्रहित के लिए आवश्यक हो।

इस बोर्ड ने ४२ उद्योगों को संरक्षण देने की सिफारिश की—३८ उद्योग युद्धकालीन और ४ पूर्वस्थित (सूती वस्त्र, इस्पात, कागज और चीनी।

सन् १९४७ में टटकर बोर्ड का पुनर्गठन किया गया। इसको दो विशेष कार्य दिये गये— (१) विदेशी वस्तुओं से देशी वस्तुओं के उत्पादन व्यय की अधिकता के कारण की जाँच करना तथा (२) न्यूनतम व्यय से देशी उत्पादन बढ़ाने के सुझाव देना १९४८ में इस बोर्ड के निम्न कार्य थे :—

(१) वस्तुओं के थोक और खेरीज मूल्य निर्धारित करना।

(२) सस्ते विदेशी माल के विरुद्ध भारतीय उद्योगों को संरक्षण देना।

(३) संरक्षित उद्योगों की समय समय पर जाँच करना। इस जाँच के कारण ३४ युद्धजनित उद्योगों को संरक्षण दिया गया और ६ पुराने उद्योगों से संरक्षण हटाया गया (सूती वस्त्र, इस्पात, कागज, मेग्नेशियम क्लोराइड, चाँदी के तार खींचने का और चीनी उद्योग)। बाद में १ वर्ष के लिए चीनी उद्योग को संरक्षण दिया गया, जिसे अप्रैल, १९५० में हटा दिया गया।

अप्रैल १९४९ में नया टटकर आयोग नियुक्त किया गया, जिसने जुलाई १९५० में अपनी रिपोर्ट दी। इसकी मुख्य सिफारिशें ये थीं:—

(१) स्थायी प्रशुल्क बोर्ड की नियुक्ति की जाय। इस सिफारिश को मानकर सरकार ने जनवरी, १९५२ में एक स्थायी प्रशुल्क बोर्ड नियुक्त कर दिया।

इस बोर्ड के प्रधान कार्य :—

(i) संरक्षण देने के लिए उद्योगों को जाच करना।

(ii) संरक्षण की दरों में परिवर्तन करने की सिफारिश करना।

(iii) सस्ती विदेशी वस्तुओं के आयात रोकने के उपाय बताना।

(iv) संरक्षित उद्योग के अनुचित कार्यों को रोकना; जैसे मूल्य बढाने के प्रयत्न आदि।

(v) संरक्षण का मूल्यस्तर, जीवनस्तर और राष्ट्रीय व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है—यह बताना।

(vi) उद्योगो पर व्यापारिक समझौतों के प्रभाव की जाच करना।

(vii) संरक्षण देते समय निम्न बातो का ध्यान रखना :—

(१) देशी–विदेशी वस्तुओं का उत्पादन व्यय, विदेशी वस्तुओं का आयात मूल्य और उचित बिक्री मूल्य। इसके अतिरिक्त संरक्षण का कुटीर उद्योगों पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(२) राष्ट्रहित में रक्षा व प्रमुख उद्योगो को संरक्षण देना।

(३) अन्य उद्योगों के लिए — प्राकृतिक साधनों के होने, उत्पादन व्यय के कम होने तथा आत्मनिर्भरता की सम्भावना होने पर संरक्षण देना।

(४) कृषि उद्योगों को भी संरक्षण आवश्यक है।

(५) आयात–करों का प्रतिवर्ष एक निश्चित भाग एक पृथक् विकास कोष जमा किया जाय, जिसमें से उद्योगों को निम्न अवस्थाओं में सहायता दी जाय :—

(i) जो उद्योग माग की पूर्ति कुछ अश तक ही कर सकता हो।

(ii) जिस उद्योग का प्रमुख उत्पादन कच्चा माल हो।

(iii) जिस उद्योग की विभिन्न क्रियाएँ पृथक् नही हो सकतीं।

इस प्रकार स्थायी प्रशुल्क बोर्ड [illegible] स्थापित होने तथा उसके कार्यों को बढाने के फलस्वरूप हमारे देश में उचित तटकर नीति स्थापित हो गई है, जो देश के औद्योगीकरण के लिए लाभदायक सिद्ध हो रही है।

प्रश्न

(१) विवेचनात्मक संरक्षण नीति की समीक्षा कीजिये और उचित तटकर नीति के लिए अपने सुझाव दीजिये।

अध्याय १४

भारत में मुद्रा विकास

भारत में आर्थिक सम्पन्नता के लक्षण अति प्राचीन युग में भी थे। पहले वस्तु-विनिमय (Barter) प्रचलित था, परन्तु इसमें कठिनाइयां होने से धीरे धीरे लोगों ने धातु को अपनाया और मुद्रा का वर्तमान स्वरूप हमारे सामने आया।

जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभुत्व हमारे देश में स्थापित हुआ, उस समय देश में विभिन्न मुद्रायें प्रचलित थीं। मुद्रा में समानता लाने के लिए सन् १८३५ में एक मुद्रा कानून बनाया गया। इसके अन्तर्गत १८० ग्रेन का चादी का रुपया प्रामाणिक एवं असीमित रूप से विधिग्राह्य घोषित कर दिया गया। सोने की मोहर सरकारी खजाने में १५) रु० प्रति मोहर के अनुसार स्वीकार की जाती थी।

सन् १८७३ तक भारत की मुख्य मुद्रा चादी का सिक्का हो गई और उसका निर्माण निर्बाध गति से होने लगा। परन्तु कुछ समय बाद चांदी के मूल्य में गिरावट आ गई, क्योंकि संसार के कुछ देशों में चांदी की नई खानें खुल गईं तथा यूरोप के कुछ देशों ने चादी को मुद्रा का परित्याग कर दिया। भारत में रुपयों की ढलाई स्वतन्त्र रूप से होती थी, अतः चादी का मूल्य स्वर्ण के मूल्य में गिरता गया। इस स्थिति को देखते हुए सरकार ने सन् १८९२ में हर्शल समिति (Herschell Committee) नियुक्त की। इस समिति ने रुपये की स्वतंत्र ढलाई बन्द कर स्वर्णमान ग्रहण करने की सिफारिश की। सरकार ने इस सिफारिश को स्वीकार कर रुपये की स्वतन्त्र ढलाई बन्द कर दी। परन्तु कुछ समय बाद देश में उद्योग-धन्धे के विकास के साथ ही रुपये की कमी मालूम होने लगी। देश में रुपये की कमी होने से रु० का स्टर्लिंग मूल्य बढ़ने लगा और १८९८ तक वह प्रति रु० १ शि० ४ पेंस हो गया।

इस वर्ष सरकार ने फाउलर समिति (Fowler Committee) नियुक्त की, जिसने कहा कि रु० की विनिमय दर १ शि० ४ पें० निर्धारित कर दी जाय और देश में सोने के सिक्के प्रचलित हों। अंग्रेजी सावरेन ग्राह्य मुद्रा घोषित कर दी जाय।

सरकार ने ये सिफारिशें मान लीं, परन्तु ब्रिटेन की टकसाल की एक शाखा सावरेन ढालने के लिए यहां के विरोध के कारण स्थापित न हो सकी। सरकारी खजाने से सावरेन लोगों को दिये जाने लगे। इस ही समय निरन्तर अकाल पड़े, जिसके कारण लोग चादी के सिक्के चाहने लगे और सोने के सावरेन खजाने में वापिस बना

होने लगे। इस स्थिति को देखते हुए सरकार ने रुपया ढालना फिर आरम्भ कर दिया और इस ढलाई से जो लाभ होने लगा, उसको एक स्वर्णमान सुरक्षित कोष (Gold Standard Reserve) में रखा जाने लगा। भारत में इसका विरोध होने पर भी कोई सुनाई नहीं हुई।

इस समय विदेशी व्यापार भारत के पक्ष में था, अतः इंगलैंड से सोना भारत को आने लगा, परन्तु स्वर्णमान सुरक्षित कोष में जो लन्दन में स्थापित किया गया था, रुपयों की ढलाई का लाभ जमा करने के लिए भारत से सोना इंगलैंड को भेजा जाता था। इस प्रकार सोने के आने-जाने के कारण अनावश्यक व्यय होता था। इस खर्चे को बचाने के लिए भारत सचिव द्वारा इंगलैंड में कौंसिल ड्राफ्ट (एक प्रकार की हुण्डी) १ शि० ४ १/८ पैन्स प्रति रु० की दर से बेचे जाने लगे। इस पर ब्रिटेन के व्यापारी भारत को सोना भेजने के स्थान पर कौंसिल ड्राफ्ट खरीद कर भेजने लगे, जिनके बदले में भारतीय व्यापारी भारतीय सरकार से रुपया प्राप्त कर लेते थे।

सन् १९०७ से व्यापार भारत के विपक्ष में हो गया, जिससे भारत में स्टर्लिंग की अधिक माग बढ़ गई। ने भारत में रिवर्स कौंसिल ड्राफ्ट बचना आरम्भ किया, जिनको इंगलैंड के व्यापारी सरकार से भुना कर स्टर्लिंग प्राप्त कर सकते थे। इसकी दर १ शि० ३२९/३२ पैंस प्रति रुपया थी। इस प्रकार भारत में स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) की स्थापना हुई सन् १९०० से १९१७ तक भारत में स्वर्ण विनिमय मान रहा जिसके फलस्वरूप सरकार रुपयों के बदले लन्दन में स्टर्लिंग के रूप में देती थी और सुरक्षित कोष लन्दन रखा जाता था।

इस पद्धति से सोने की बचत होती थी। क्योंकि देश में सोने का सिक्का नहीं चलता था तथा सुरक्षित कोष का सोना दोनों देशों की मुद्रा के सुरक्षित कोष का काम देता था। परन्तु कोई सरकारी बैंक न होने के कारण इसका प्रबन्ध दोषपूर्ण था।

इस मान की असफलता का मुख्य कारण चादी के मूल्य में वृद्धि होना था। व्यापार भारत के पक्ष में होने के कारण रुपया की माग बढ़ गई और इसलिए रु० का ढालना आवश्यक हो गया। परन्तु युद्ध के कारण चादी का आयात करना कठिन था। अतः विनिमय दर १ शि० ४ पेंस से बढ़कर अगस्त १९१७ में १ शि० ५ पेंस हो गई और दिसम्बर १९१७ में २ शि० ४ पेंस।

इस स्थिति को देखते हुए सरकार को विवश होकर स्वर्ण विनिमय मान को त्यागना पड़ा। सन् १९१९ में वेलिंगटन स्मिथ समिति नियुक्त की गई, जिसने रुपये की विनिमय दर २ शि० (स्वर्ण) निश्चित करने की सिफारिश की। इस ऊंची दर से मूल्यों में वृद्धि रुक जायगी और इंगलैंड को जो राशि (Home Charges) प्रशासन के व्यय के लिए भेजी जाती थी, उसमें बचत होगी।

सरकार ने यह सिफारिश मान ली, परन्तु इसमें सरकार को सफलता नहीं मिली।

क्योंकि जनवरी १९२० से विदेशी व्यापार भारत के विपक्ष में हो गया, और इस कारण रुपये की माग में भारी कमी आ गई। विनिमय दर में सट्टा शुरू हो गया, क्योंकि ऊंची दर का लाभ उठाने के लिए भारतीय व्यापारी लन्दन में अपना देय चुकाने लगे। इससे स्टर्लिंग की माग बढ़ गई और सरकार को २ शि० (सोने) की दर को स्थिर रखना असम्भव हो गया। सितम्बर १९२० तक सरकार को ३५ करोड़ रुपये की हानि उठानी पड़ी और उसके बाद सरकार द्वारा विनिमय दर निश्चित नहीं की गई।

१९२१–२२ के बाद स्थिति में कुछ सुधार हुआ। व्यापार भारत के पक्ष में हो गया और बजट में सतुलन हुआ। अक्टूबर १९२४ में विनिमय दर १ शि० ६ पेंस हो गई। अगस्त १९२५ में हिल्टनयंग कमीशन नियुक्त हुआ, जिसने जुलाई, १९२६ में तीन मुख्य सिफारशें कीं—

(१) देश में स्वर्ण धातुमान (Gold Bullion Standard) स्थापित किया जाय।

(२) एक रिजर्व बैंक की स्थापना की जाय।

(३) रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पेंस रखी जाय।

सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और १९२७ के कानून के अनुसार सोने के तोले का मूल्य २१ रु० ३ आ० १० पाई रखा गया और विनिमय दर १ शि० ६ पेंस निर्धारित की गई। सरकार २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोले की दर से ४० तोले सोने की छड़ें खरीद सकती थी और भुगतान करने के लिए (४०० औंस से कम नहीं) पौंड बेच सकती थी।

विनिमय दर के निश्चित करने में बड़ा वादविवाद हुआ। बहुमत १ शि० ६ पेंस के पक्ष में था परन्तु सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने १ शि० ४ पेंस की दर रखने की माग की।

१ शि० ६ पैंस के पक्ष में यह कहा गया कि यह दो वर्ष से चालू है और मूल्य तथा मजदूरी की दरें इस अनुपात से स्थिर हो गई हैं। दूसरे दर बदलने से भारत के विदेशी व्यापार में भी अस्थिरता आ सकती है। ठेके और सौदे अधिकतर १ शि० ६ पेंस की दर के समय ही हुए हैं, अतः उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। १ शि० ४ पें० की दर रखने से इंगलैंड को जो 'होम चार्जेज' दिये जाते थे, उनमें वृद्धि होगी। इससे बजट में भी सतुलन न रह सकेगा।

इसके विपरीत अल्पमत का यह कहना था कि विनिमय दर १ शि० ४ पेंस अधिक समय (सन् १८९८ से १९१७) तक रही है। इस कारण मूल्य और मजदूरी ऊंचे अनुपात से स्थिर नहीं हुई हैं। १ शि० ६ पेंस की दर से भारत में आयात अधिक होगा और निर्यात कम और इस प्रकार व्यापार विपक्ष में हो जायेगा, जिससे व्यापार में मन्दी आयेगी, मजदूरी की दरें घटाई जायेंगी तथा हड़ताल आदि सघर्ष होगा। ऊंची दर रखने से ऋणदाता को

लाभ होगा और ऋणी किसानों की दुदशा। १ शि० ४ पेंस की दर रखने से हिसाब-किताब रखने में सुविधा होगी, क्योंकि इस दर से एक पौंड पूरे १५ रुपये के बराबर हो जायेगा।

परन्तु सरकार ने रुपये की दर १ शि० ६ पेंस ही निर्धारित की। यह स्थिति २१ सितम्बर, १९३१ तक रही, जबकि इंगलैंड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। भारत को भी इंगलैंड का अनुसरण करना पड़ा। अब रुपये का सबंध सोने के स्थान पर स्टर्लिंग के साथ हो गया और भारत स्टर्लिंग विनिमय मान पर आ गया १ शि० ६ पैंस की दर से सरकार असीमित मात्रा में स्टर्लिंग खरीद और बेच सकती थी इसका परिणाम यह हुआ कि सोने का मूल्य बढ़ गया और भारत से सोने का निर्यात इंगलैंड होने लगा। स्टर्लिंग विनिमय मान की भारत में आलोचना की गई, क्योंकि यह कहा गया कि स्टर्लिंग का सोने के भाव में जो उतार-चढ़ाव होगा, वही रुपये के भाव में भी होगा। परन्तु स्थिति को देखते हुए स्टर्लिंग विनिमय मान ही उपयुक्त था क्योंकि बहुत से देशों ने स्वर्णमान को त्याग दिया था और भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर इंगलैंड से ही होता था। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक आफ इंडिया स्थापित किया गया।

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने से चांदी का मूल्य बढ़ गया और लोग चांदी के सिक्कों को संग्रह करने लगे। सरकार ने कम चांदी की मात्रा के नये चांदी के सिक्के निकाले और पुराने सिक्कों को वापस ले लिया। इस ही समय रेजगी की बहुत कमी हुई, तब १९४१ में तांबे के छेद वाले पैसे निकाले गए और पीतल की इकन्नी, दुअन्नी। युद्धकाल में पत्र-मुद्रा का बहुत अधिक प्रसार हुआ। सितम्बर, १९३९ में १८०६ करोड़ रुपये के नोट्स निर्गमित किए गए थे, जो जून १९४६ में बढ़कर १३७२९ करोड़ रुपये के हो गए। १ रुपये तथा २ रुपये के नोटों को भी प्रकाशित किया गया। युद्धकाल में इंगलैंड में भारत के खाते अधिक स्टर्लिंग सिक्योरिटीज जमा होने लगी, क्योंकि युद्ध का आवश्यक माल अधिकतर इंगलैंड भारत से खरीदता था और उसका तत्काल मूल्य न चुकाकर भारत के खाते में स्टर्लिंग प्रतिभूतियां जमा कर देता था, इनको (Sterling Balpuces) पौंड-पावने कहते हैं। इस खाते में १९४७ तक १७०९ करोड़ रु० जमा हो चुके थे, जो बाद में मई, १९५७ में घटकर ४९६ करोड़ रुपये रह गए।

युद्ध के पश्चात अमेरिका में २ संस्थाएं स्थापित की गईं-(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I M F) जिसका कार्य विभिन्न देशों की मुद्रा की विनिमय दर को स्वीकृति देना था, और (२) अन्तर्राष्ट्रीय विकास बैंक (World Bank), जिसका कार्य देशों के आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन ऋण देना था। इन संस्थाओं के स्थापित होने से रुपया एक स्वतंत्र मुद्रा घोषित कर दिया गया और विनिमय दर १ शि० ६ पैंसे प्रति रुपया तथा ३०.२३ सैन्ट (Cents) प्रति रुपया कर दी गई।

देश के विभाजन के फलस्वरूप मुद्रा नीति भी प्रभावित हुई। ३० सितम्बर, १९४८ तक दोनों देशों में एक मुद्रा रही और रिजर्व बैंक द्वारा पाकिस्तान के लिये भी नोट छापे

अध्याय १५

भारत में बैंकिंग व्यवस्था

किसी भी देश का आर्थिक विकास उसकी सुव्यवस्थित बैंकिंग प्रणाली पर अधिक निर्भर रहता है। भारत की कृषि, उद्योग तथा व्यापार की अवनत दशा का एक मुख्य कारण अपर्याप्त बैंकिंग व्यवस्था है।

भारत में बैंकिंग व्यवसाय अति प्राचीन काल से लोग करते थे। यद्यपि उस समय आधुनिक बैंकिंग प्रणाली के अनुसार कार्य नहीं होता था। हुण्डियों का चलन भी भारत में बहुत प्राचीन है। इस व्यवसाय में लगे लोग सेठ, साहूकार, सर्राफ, मुल्तानिया आदि कहलाते थे। ये रुपया जमा करते थे, ब्याज पर रुपया उधार देते थे और सरकार की ओर से लगान भी वसूल करते थे।

भारत में अभी भी देशी बैंकिंग प्रणाली (Indigenous Banking System) अधिक महत्वपूर्ण है। देशी बैंकर अधिकतर व्यक्तिगत जमानत पर छोटे व्यापारियों को ऋण देते हैं, हुण्डियों का लेनदेन करते हैं, रुपया जमा करते हैं और अपना व्यापार भी करते हैं। देशी बैंकर अनेक छोटे छोटे व्यापारियों की वित्त व्यवस्था सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं, जो व्यापारिक बैंकों की शर्तों को पूरा नहीं कर सकते।

देशी बैंकर की इतनी महत्वपूर्ण स्थिति होते हुए भी वे अभी तक असंगठित हैं और पुरानी विधियों से काम करते हैं, अधिक ब्याज की दर लेते हैं और हिसाब-किताब ठीक ढंग से नहीं रखते। इस प्रकार ये आधुनिक मुद्रा बाजार तथा रिजर्व बैंक से सम्बन्धित नहीं हैं।

यह दुःख का विषय है कि इन बैंकरों की महत्ता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। यदि इनको उन्नत किया जा सके तो देश की आर्थिक प्रगति अधिक तीव्र गति से सम्भव हो सकती है। इनको सुसंगठित करने के लिये इन्हें दूसरे अनुसूचित बैंकों के समान रिजर्व बैंक से सम्बन्धित करना चाहिये तथा उन्हें वैसी ही सुविधाएं मिलनी चाहिये। इन बैंकों को अपने लेखे उचित ढंग से प्रमाणित कराकर प्रकाशित कराने के लिये प्रेरित करना चाहिये और उन्हें अपने बैंकिंग व्यापार को अपने व्यापारिक धन्धे से पृथक् रखना चाहिये।

१९३८ में रिजर्व बैंक ने इन बैंकों को अपने साथ शृंखलाबद्ध करने की योजना बनाई, परन्तु यह स्वीकार नहीं की गई। १९५१ में केन्द्रीय सर्राफ सभा की स्थापना द्वारा देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक के साथ सम्बन्धित करने का समर्थन किया गया। इस सभा की

सिफारिशों पर ही यह कहा जा सकेगा कि देशी बैंकर किस सीमा तक बैंकिंग प्रणाली के साथ सम्बन्धित हो सकेंगे।

आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का सूत्रपात हमारे देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा बैंकिंग कार्य अपनाये जाने से हुआ जिसके कार्यालय कलकत्ता–बम्बई में खोले गये। अत्यधिक सट्टे की प्रवृत्ति के कारण सन् १८२९–३२ के व्यापारिक संकट के कारण इन एजेन्सी गृहों का अन्त हो गया। सबसे प्रथम आधुनिक बैंक सन् १६८८ में मद्रास में खोला गया। दूसरा बैंक बम्बई सरकार ने सन १७२४ में खोला। इसके बाद मद्रास में तथा अन्य स्थानों में बैंक खुले। सन् १७७० में Bank of India खुला, परन्तु १८२९–३२ के व्यापारिक संकटकाल में यह फेल हो गया।

१९वीं सदी के आरम्भ में १८०६ में प्रेसीडेन्सी बैंक ऑफ बंगाल की स्थापना हुई। सन् १८४० में ऐसा ही एक बैंक बम्बई में तथा १८४३ में मद्रास में खोला गया। सट्टेबाजी के कारण बम्बई का बैंक १८६८ में फेल हो गया। इसके बाद सरकार ने बंगाल और मद्रास वाले बैंकों के अंश बेच दिये और इस प्रकार वे समाप्त हो गये। सन् १९२१ में इन बैंकों के समान सरकारी बैंक 'इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया' बना। इस पर सरकार का नियंत्रण था यह ६ महीने से अधिक ऋण नहीं दे सकता था, विदेशी विनिमय का कार्य नहीं कर सकता था, यह अचल सम्पत्ति व अपने अंशों की जमानत पर ऋण नहीं दे सकता था। [illegible] बैंक के ७ संचालक सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे।

परन्तु इस बैंक के कुछ दोष थे और इसी कारण इसकी आलोचना की जाती थी। यह बैंक सरकारी होने के नाते विशेष प्रतिष्ठा रखता था और अनुचित लाभ कमा रहा था। यह विदेशी फर्मों को अधिक सुविधाएं देता था। इसका प्रबन्ध विदेशियों के हाथ में था, अतः प्रमुख पद विदेशियों को ही दिये जाते थे। इन दोषों के कारण १ जुलाई, १९५५ को इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया और इसका नाम 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया' रख दिया।

मिश्रित पूंजी वाले बैंक

सन् १८६० में इण्डियन कम्पनीज एक्ट के पास हो जाने पर सीमित दायित्व का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। इससे लोग अधिकाधिक शेयरों को खरीदने के लिये उत्साहित हो सके। इस ही समय अमेरिकन गृहयुद्ध के कारण बैंकों को प्रोत्साहन मिला। अतः १८६५ में इलाहाबाद बैंक, १८७४ में अलायन्स बैंक, ऑफ शिमला, १८८१ में अवध कमर्शियल बैंक, सन् १८९५ में पंजाब नेशनल बैंक और १९०१ में पीपल्स बैंक खुले। आरम्भ में सभी बैंकों का संचालन अंग्रेज करते थे। १९१३ में पीपल्स बैंक और सन १९२३ में शिमला के बैंक बन्द हो गये।

सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय बैंकिंग के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। १९०५ से १९१३ तक अनेक बैंक स्थापित हुए। इसके बाद तो देश में बैंकों की बाढ़ सी आ गई।

सन १६१३ में भारतीय बैंकों के लिये एक संकटकाल उपस्थित हुआ। १६१४ से १६१८ तक लगभग ६५ बैंक फेल हुए। सन १६१६ व १६२४ के बीच में ५१ करोड़ की पूंजी वाले ८४ बैंक फेल हुए।

बैंकों के फेल होने के कारण

देश की जनता का बैंकों पर कोई विश्वास नहीं था। जब भी बैंक जमा राशि लौटाने में विलम्ब करते, समस्त ग्राहक घबड़ा जाते थे और तब एक साथ अपना रुपया निकालने के लिये बैंक पर टूट जाते थे और इस प्रकार बैंक का दिवाला निकल जाता था। बैंकों के प्रारम्भिक काल में इस स्थिति को उत्पन्न करने वाले मुख्य कारण (१) कुशल एवं अनुभवी संचालकों का अभाव (२) बैंकों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और (३) जनता की निरक्षरता थे।

भारत में बैंकों के फेल होने का दूसरा कारण देश में किसी भी प्रकार के बैंकिंग विधान का अभाव था। बहुत से बैंक सट्टेबाजी एवं अनियमित कार्यों में रुपया लगाकर फेल हो जाते थे।

बैंकों के फेल होने का तीसरा कारण ऐसे केन्द्रीय बैंक का न होना था, जो देश में मुद्रा तथा साख का सामंजस्य रख सकता बैंकों के लिये पथप्रदर्शक, विचारक व मित्र होता और सरकार को समय समय पर बैंकिंग व्यवसाय पर उचित नियन्त्रण लगाने की सलाह देता।

व्यापारिक बैंकों के कार्य

(१) ये बैंक रुपया जमा करते हैं। जमा राशि तथा सुरक्षित कोष से थोड़े समय के लिये व्यापारियों को ऋण देकर देश के वाणिज्य एवं उद्योग के विकास में महत्वपूर्ण योग देते हैं। व्यापारिक बैंकों के द्वारा देश के धन में लचक तरलता तथा गतिशीलता आती है।

(२) ये बिल हुण्डी भुनाकर भी व्यापारियों को अल्पकालीन सहायता देते हैं, वे उनसे खाता खुलवाकर चैक काटने की भी अनुमति देते हैं।

(३) ये सोना, चांदी, राज्य प्रतिभूतियां एवं अन्य साख पत्रों की जमानत पर ऋण देते हैं। माल व खेती की उपज पर भी ये ऋण देते हैं।

(४) ये कभी कभी विश्वसनीय व पर्याप्त धन वाले को व्यक्तिगत जमानत पर भी ऋण देते हैं।

(५) व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों को दूसरे व्यापारियों की आर्थिक स्थिति का पता लगाने में सहायक होते हैं।

(६) एक एजेण्ट के रूप में व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के ऋणपत्र व कम्पनियों के अंश खरीदते हैं, ग्राहकों की ओर से सरकारी प्रतिभूतियों पर ब्याज लेते हैं, बीमा की किश्त आदि का भुगतान करते हैं। ये आभूषण और अन्य बहुमूल्य वस्तुएं सुरक्षार्थ में रखते हैं।

विनिमय बैंक (Exchange Banks)

विदेशों को भुगतान करने के लिए अथवा उससे धन लेने के लिए एक मध्यस्थ की आवश्यकता पड़ती है और वह वर्तमान काल में विनिमय बैंक है।

सन् १८४२ में ओरियन्टल विनिमय बैंक की स्थापना की गई। सन् १८५३ में चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया, चीन और आस्ट्रेलिया तथा मर्केन्टाइल बैंक इंगलैण्ड में स्थापित हुए। सन् १८६३ में कलकत्ता बैंकिंग कारपोरेशन खुला, जिसका नाम बाद में बदलकर 'नेशनल बैंक आफ इण्डिया' कर दिया गया। इसका प्रधान कार्यालय पहले कलकत्ते में था, परन्तु बाद में लन्दन ले जाया गया। सन् १८६६ में भारत में कई विनिमय बैंक स्थापित हुए। सन् १८८४ में ओरियन्टल बैंक फेल हो गया। भारत में जितने भी विनिमय बैंक हैं, वे सब केवल शाखाएं हैं, जिनके प्रधान कार्यालय लन्दन, सुदूरपूर्व, अमेरिका आदि में हैं। भारत के प्रमुख विनिमय बैंक ये हैं—नेशनल बैंक आफ इण्डिया (लदन), लायड्स बैंक (लन्दन), भारत, चीन और आस्ट्रेलिया का चार्टर्ड बैंक (लन्दन), मर्केन्टाइल बैंक आफ इण्डिया (लन्दन), नेशनल सिटी बैंक आफ न्यूयार्क, बैंक आफ चाइना, पेसिफ बैंक आदि।

विनिमय बैंक के कार्य

(१) विदेशों को भुगतान करने में सहायता देना।

(२) भारत में विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता देना।

(३) विदेशी विनिमय पत्रों का क्रय-विक्रय करना तथा उनको भुनाना।

(४) भारत के आन्तरिक व्यापार को आर्थिक सहायता देना और बन्दरगाह से सामान देश के भीतरी मण्डियों में पहुँचाना।

(५) जनता का रुपया जमा करना, रुपया उधार देना आदि अन्य बैंकों के कार्य करना।

(६) स्वर्ण एवं रजत धातु का क्रय-विक्रय करना और उनका आयात-निर्यात करना।

(७) विदेशी व्यापारियों को भारत के अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति बताना और यहाँ के बाजारों की स्थिति से उन्हें अवगत करना।

(८) भ्रमणार्थ आने वाले विदेशियों की मुद्रा को देशी मुद्रा में परिवर्तित कर ये बैंक दो देशों के राजनैतिक, साम्कृतिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों को दृढ़ करने में सहायता देते हैं।

(९) कुछ बैंक अपने यहां जनता की जमा भी रखते हैं और बहुमूल्य वस्तुओं की जमानत पर ऋण भी देते हैं।

विनिमय बैंकों की आलोचना

प्राय: भारतीय विनिमय बैंकों को इस क्षेत्र में कार्य करने की सुविधा नहीं दी जाती थी। भारतीय इससे सन्तुष्ट न थे। इसके निम्न कारण हैं :—

(१) ये बैंक आन्तरिक व्यापार में भी भाग लेते हैं और इससे भारतीय बैंक नहीं पनप सकते।

(२) इनकी पूंजी भारतीय मुद्रा में नहीं होती, इनका कार्यसंचालन भी विदेशी सरकार के अधिनियमों द्वारा ही होता है, अतएव ये भारत के लिए अहितकार हैं।

(३) ये बैंक भारतीयों पर विश्वास नहीं करते। उत्तरदायी स्थानों पर विदेशी ही नियुक्त करते हैं।

(४) ये बैंक अपने अंश भारतीयों को नहीं बेचते। परिणामस्वरूप भारतवासी ऐसे बैंकों के कार्य-संचालन में भाग नहीं ले पाते और ऐसा प्रबन्ध निश्चय ही देश के लिए घातक सिद्ध होगा।

(५) जब माल मंगाया जाता है तो यह विदेशी जहाजी व बीमा कम्पनियों को विशेष प्राथमिकता (Preference) देते हैं। परिणामस्वरूप भारतीय कम्पनियां वंचित रह जाती हैं और देश का धन भी बाहर चला जाता है।

(६) ये बैंक भारतीयों से अधिक कमीशन वसूल करते हैं।

(७) ये बैंक यहां से पूंजी एकत्रित कर अपने देश में लगाते हैं और यहां विकास का कार्य नहीं हो पाता।

(८) ये विदेशी व्यापार की अधिक उन्नति चाहते हैं।

(९) ये अपनी वार्षिक रिपोर्ट नहीं बनाते और अपने आय-व्यय के आंकड़े नहीं प्रकाशित करते।

सन् १९४९ में भारतीय बैंकिंग कम्पनी विधान के पास हो जाने पर विदेशी विनिमय बैंकों पर निम्नलिखित नियन्त्रण लगाये गये —

(१) इन्हें लाइसेंस लेना आवश्यक है।

(२) विदेशी बैंक रिज़र्व बैंक के पास १५ लाख रुपया जमा रखें और यदि इनका व्यवसाय बम्बई और कलकत्ता में भी हो तो २० लाख रुपया रखना आवश्यक है।

(३) रिज़र्व बैंक के पास इनकी जमा रकम पर बैंक के बन्द होने पर भारत के बैंक के लेनदारों का प्रथम अधिकार होगा।

(४) प्रत्येक बैंक को सावधि तथा मांग की जमाओं के विरुद्ध उनके ७५% मूल्य की सम्पत्ति सदैव भारत में रखनी पड़ेगी।

(५) इन्हें वर्ष के अन्त में अपने भारत में किए गए व्यापार का हानि-लाभ का खाता तथा वार्षिक चिट्ठा रिज़र्व बैंक को भेजना पड़ेगा।

खेद का विषय है कि विनिमय बैंकिंग कार्य में भारतीयों का हाथ नहीं के बराबर है और इस कारण बहुत सा धन कमीशन, दलाली तथा बीमे के रूप में विदेशों को चला जाता है। कुछ भारतीय बैंकों ने विदेशों में अपनी शाखाएँ खोली हैं। १९४६ में १०६ भारतीय बैंकों की शाखाएं विदेशों में थी। भारतीय बैंकों को इस कार्य में पूंजी तथा कुशल कर्मचारियों की कमी और राजनैतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया

इसका निर्माण इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर १ जुलाई, १९५५ को हुआ। इसका प्रबन्ध संचालन एक केन्द्रीय बोर्ड द्वारा होता है, जिसमें २० सदस्य होते हैं। इस बोर्ड के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की नियुक्ति सरकार रिज़र्व बैंक की सलाह से करेगी। २ प्रबन्ध डाइरेक्टरों की नियुक्ति केन्द्रीय बोर्ड सरकार की सहमति से करती है। ६ संचालक रिज़र्व बैंक के अतिरिक्त अन्य अंशधारियों द्वारा तथा ८ संचालक रिज़र्व बैंक की सलाह के अनुसार सरकार स्थानीय तथा आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करने के उद्देश्य से नियुक्त करती है। एक संचालक केन्द्रीय सरकार और एक रिज़र्व बैंक नियुक्त करेगा।

कार्य

(१) यह उद्योग व व्यापार को साख सुलभ करता है।

(२) रिज़र्व बैंक के रूप में भी यह कार्य करता है।

(३) अपनी स्थापना के ५ वर्षों में यह ४०० शाखाएं खोलेगा।

(४) यह अधिक मात्रा में धन के स्थानान्तरण की सुविधा सुलभ करता है, विशेष रूप से देहाती बचत के स्थान्तरण के हेतु अधिक प्रयत्नशील रहेगा।

(५) अपनी शाखाओं का विस्तार करके तथा गोदामों एवं अन्य फसल की बिक्री सम्बन्धी आवश्यक सुविधाएं सुलभ करके—इससे आशा की जाती है कि बाद में यह ग्राम्य साख की मात्रा में काफी वृद्धि कर सकेगा।

(६) केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त कर स्टेट बैंक अन्य बैंकों के व्यवसाय, उनकी सम्पत्ति तथा देनदारियों पर भी स्वामित्व कर सकता है।

(७) स्टेट बैंक की अधिकृत पूंजी २० करोड़ रुपया है, जिसमें से निर्गमित पूंजी ५.६२५ करोड़ रुपए है।

(८) विदेशी विनिमय के विकास में महत्वपूर्ण भाग लेता है।

रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया

६ मार्च, १९३४ को सरकार ने एक अधिनियम 'रिज़र्व बैंक एक्ट' घोषित किया। १ अप्रैल, १९३५ से रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया ने काम प्रारम्भ किया। १९३५ से १९४८

तक यह बैंक अ शधारियों का रहा । १ जनवरी १९४९ को इसका राष्ट्रीयकरण हो गया और अब यह राष्ट्रीय बैंक के रूप में कार्य कर रहा है।

राष्ट्रीयकरण के पश्चात भी बैंक की पूजी ५ करोड़ ही है। अब यह पूजी सरकार द्वारा ही लगाई गई है, क्योंकि अ शधारियो को उचित मुआवजा दे दिया गया। इस बैंक की नीति सरकार के आदेशानुसार ही निर्धारित होती है।

प्रबन्धसंचालन

इस बैंक का प्रबन्ध एक सचालक मण्डल द्वारा होता है जिसका निम्नलिखित स्वरूप है —

(१) केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त एक गवर्नर और दो डिप्टी गवर्नर जिनका कार्य-काल ५ वर्ष तक का होता है।

(२) चार स्थानीय बोर्ड भी हैं। प्रत्येक में सरकार द्वारा मनोनीत ५ सदस्य होते हैं, जिनमें से सरकार द्वारा नियुक्त प्रत्येक बोर्ड में से एक सचालक अर्थात ४ सचालक।

(३) भारत सरकार द्वारा नियुक्त ६ सचालक और एक सरकारी अफसर। इस केंद्रीय बोर्ड में १४ सचालक होते हैं।

रिजर्व बैंक के मुख्य विभाग

(१) निर्गम विभाग (Issue Department) —इसका मुख्य कार्य अर्थपत्र निर्गमित करना है। इसकी दो शाखाए हैं—एक शाखा का कार्य नोट निकालना तथा उनका विनिमय करना है तथा दूसरी का काम रजिस्ट्रेशन करना नोटों की जाँच करना, उनको रद्द करना हिसाब रखना और अन्तरिम आडिट करना है।

(२) बैंकिंग विभाग —यह देश के अन्य बैंकों से सम्बन्ध रखता है और उनका नकद कोष रखता है। इसके ५ उपविभाग हैं—जमा खाता, अ शों का हस्तांतरण, साखपत्र, सरकारी खाता तथा सरकारी ऋण।

(३) कृषि साख विभाग —इस विभाग का कार्यक्षेत्र कृषि समस्याओं का समा-धान करना है। यह कृषि साख नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भाग लेता है।

(४) विदेशी विनिमय नियत्रण विभाग —इस विभाग का मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय दर को स्थायी रखना है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना है।

(५) शोधन एवं आंकड़ा विभाग —यह विभाग मुद्रा, साख, बैंकिंग बैंकदर आदि विषयों पर अनुसधान करता है तथा अपनी शोध के परिणाम प्रकाशित करता है। यह देश के मुद्रा बाजार तथा बैंकिंग व्यवस्था से सम्बन्धित आंकडे भी एकत्रित करता है तथा उन्हे प्रकाशित करता है।

(६) बैंकिंग विकास विभाग —इसका मुख्य उद्देश्य छोटे नगरों में बैंकिंग सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार करना है।

(७) बैंकिंग क्रियाओं का विभाग :—देश की बैंकिंग व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

रिजर्व बैंक के कार्य (Functions)

केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कार्य :—(१) पत्र मुद्रा निकालना। यह कार्य निर्गम विभाग करता है। इस विभाग की सम्पत्ति स्वर्णपाट, स्वर्णमुद्रा, सुरक्षित कोष, विदेशी साख-पत्र तथा व्यापारिक बिलों में रखी जाती है। पहले सम्पूर्ण निर्गमित नोटों का ४०% स्वर्ण-पाट, स्वर्ण सिक्के तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में रखना अनिवार्य था। बाद में स्टर्लिंग प्रति-भूतियों के स्थान पर विदेशी प्रतिभूतियों को रखा जाने लगा। नवम्बर १६५७ के एक आदेश द्वारा न्यूनतम रिजर्व २०० करोड़ रु० होना चाहिए, जिसमें ११५ करोड़ रु० का सोना सम्मिलित है। यह कार्य विदेशी विनिमय संकट को टालने के लिए किया गया है।

(२) अनुसूचित बैंकों के नकद कोष का कुछ अंश जमा रखना—अनुसूचित बैंक अपनी चालू जमा का ५०% तथा सावधि जमा का २% इस बैंक के पास जमा रखते हैं।

(३) सरकार का सम्पूर्ण बैंकिंग सम्बन्धी कार्य करना।

(४) विदेशी विनिमय का कार्य—यह विदेशी मुद्राओं का विनिमय करता है।

(५) केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी अन्य कार्य—यह केन्द्रीय बैंक के रूप में अन्य सेवाएं भी करता है, जिसमें समाशोधन गृह (Clearing House) की व्यवस्था मुख्य है। यह बैंक नोटों को चांदी के सिक्कों में व रुपयों को नोटों में बदलता है और रेजगारी निकालता है। देश के बैंकिंग सम्बन्धी अंक एकत्रित करता है और देश की अर्थ नीति के निर्धारण में महत्वपूर्ण भाग लेता है।

व्यापारिक कार्य

(१) यह बिना ब्याज के भारत सरकार, राज्य सरकार तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं से रुपया जमा कर सकता है।

(२) यह अपने अनुसूचित बैंकों से स्टर्लिंग क्रय करने तथा उन्हें विक्रय करने का कार्य करता है अर्थात् विदेशी मुद्रा में देश की मुद्रा परिवर्तित करता है।

(३) यह भारत तथा राज्य सरकारों को तीन माह से अधिक अवधि का ऋण नहीं दे सकता।

(४) यह व्यापारिक बिलों का क्रय-विक्रय कर सकता है अथवा उन्हें पुनः भुना सकता है। इन बिलों में निम्न बातें होना आवश्यक हैं :—

(a) ये किन व्यापारिक सौदों के हों।

(b) ६० दिन की अवधि से अधिक के न हों।

(c) इन पर कम से कम २ हस्ताक्षर हों।

(d) इनका भुगतान भारत में होने वाला हो।

(५) यह अपनी पूंजी से अधिक मात्रा में ऋण नहीं ले सकता।

(६) यह ब्रिटेन के ऐसे साख पत्रों का क्रय विक्रय कर सकता है, जो क्रय करने से १० वर्ष के अन्दर पक जावें।

(७) यह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के प्रत्येक साख–पत्र का क्रय–विक्रय कर सकता है।

(८) यह अनुसूचित बैंकों, राज्य सहकारी बैंकों, स्थानीय शासन संस्थाओं आदि को सोना, स्टर्लिंग और रुपया प्रतिभूतियों या स्वीकृत अधिपत्रों की जमानत पर ९० दिन के लिए ऋण दे सकता है।

(९) यह अनुसूचित बैंकों से कम से कम १ लाख रु० के विनिमय बिलों तथा स्वीकृत मुद्राओं का क्रय–विक्रय कर सकता है।

(१०) मुद्रा प्रतिभूति एवं अन्य बहुमूल्य वस्तुएं रख सकता है तथा उनका मूल्य ब्याज सहित वसूल कर सकता है।

(११) किसी भी विदेशी बैंक से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और उनके प्रतिनिधि के रूप में कार्य कर सकता है।

(१२) स्वर्ण व रजत का क्रय–विक्रय तथा उनका स्थानान्तरण कर सकता है। चल अथवा अचल संपत्ति जो भी बैंक के अधिकार में आवे, उनका विक्रय कर सकता है।

(१३) १९५१ में रिजर्व बैंक ने बिल मार्केट योजना बनाई, जिसका उद्देश्य मुद्रा बाजार में लोच लाना था। इसके अनुसार अनुसूचित बैंकों को विशेष सुविधाएं दी गई हैं।

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य

देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते यह अन्य व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता नहीं कर सकता। यह कोई व्यापार नहीं कर सकता तथा अचल सम्पत्ति को अपने निजी काम के अतिरिक्त नहीं खरीद सकता। यह अपने या अन्य बैंक तथा कम्पनी के अंश नहीं खरीद सकता और न इन अंशों की जमानत पर ऋण दे सकता है।

इस बैंक को कार्य करते हुए ०५ वर्ष हो चुके हैं। यह निजी संस्था से अब सरकारी बैंक के रूप में कार्य कर रहा है। इसने बहुत सी विषम परिस्थितियों में सफलतापूर्वक कार्य किया है—मन्दी, युद्ध, मुद्रा स्फीति (Inflaction), विभाजन, रु० का अवमूल्यन और पचवर्षीय योजनाएं। इतना सब करने पर भी रिजर्व बैंक अभी तक देशी बैंकरों को अपने साथ शृंखलाबद्ध करने में असफल रहा है।

भारत में बैंकिंग व्यवस्था की अभी तक इतनी उन्नति नहीं हुई है, जितनी कि देश के क्षेत्रफल और जनसंख्या को देखते हुए होनी चाहिए। यही कारण है कि हमारे देश में उद्योग–धन्धों का आधुनिक रूप में अधिक विकास नहीं हो सका। हमारी बैंकिंग व्यवस्था में निम्न दोष हैं :—

(१) अधिकतर बैंक हमारे देश के नगरों तथा बड़े बड़े कस्बों तक ही सीमित हैं। भारत गांवों का देश है, परन्तु गांवों में बैंक का नाम भी नहीं है। इस प्रकार देहाती बचत को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता तथा पूंजी निर्माण में कमी होती है।

(२) देश में मुद्रा बाजार के विभिन्न भागों में आपसी सम्बन्ध नहीं है। विदेशी विनिमय बैंक व्यापारिक बैंकों से अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा करते हैं तथा देशी बैंकर और महाजन का सम्बन्ध देश के अन्य बैंकों से नहीं है।

(३) विभिन्न प्रकार के बैंकों की ब्याज की दर भिन्न भिन्न है, जिससे मुद्रा बाजार सुसंगठित रूप में विकसित नहीं हो पाता।

(४) एक बड़ा दोष यह है कि उद्योग-धन्धों की मांग की पूर्ति के लिये बैंकों के पास पर्याप्त द्रव्य और साख नहीं है। इसका मुख्य कारण लोगों की रुपये को दबाकर रखने की प्रवृत्ति है तथा अशिक्षा है।

(५) हमारे देश में संगठित बिल बाजार का अभाव है। इसका मुख्य कारण यह है कि देश में लोग सरकारी पत्रों को अधिक श्रेष्ठ समझते हैं तथा नकद साख का अधिक प्रयोग है। निकासी तथा वित्तगृहों (Clearing Finance Houses) का नितान्त अभाव है।

इन दोषों को दूर करने के लिए रिजर्व बैंक तथा बैंकिंग कम्पनीज़ एक्ट १९४९ ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। रिजर्व बैंक की बिल मार्केट योजना से आशा है कि शीघ्र ही हमारे देश में एक अच्छे बिल बाजार का निर्माण हो जायेगा।

रिजर्व बैंक देश के देशी बैंक तथा महाजनों से अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील है।

दूसरी पचवर्षीय योजना में सरकारी गोदामों के बनाने की योजना है, जिनमें सामान रखकर अधिकार पत्र प्राप्त किये जा सकते हैं, जिनसे रिजर्व बैंक को बिलों का पुनर्बट्टा करने में कोई आपत्ति न होगी। इसके अतिरिक्त एक अखिल भारतीय बैंक संघ स्थापित होना चाहिए, जिसका कार्य बैंकों के हितों की रक्षा करना तथा आपसी प्रतिस्पर्धा रोकना हो।

प्रश्न

(१) भारत की बैंकिंग व्यवस्था के मुख्य दोष बताइये और उन्नति के सुझाव दीजिए।

(२) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के मुख्य कार्यों का वर्णन करिये और यह बताइये कि उसने कहां तक सफलतापूर्वक कार्य किया

(३) विदेशी विनिमय बैंकों की कार्य कारिता भारतीय हितों के लिए किस प्रकार हानिकर हुई है ?

द्वितीय भाग

अध्याय १—९

इंगलैंड का आर्थिक विकास

अध्याय

अध्याय १

प्रारम्भिक

मध्य युग में इंगलेंड कृषिप्रधान देश ही था। परन्तु वास्तव में जो प्राकृतिक साधन वहाँ पाये जाते हैं वे वहा के उद्योगों के लिए आवश्यक है। इनमें हम इंगलेंड की भौगोलिक स्थिति को ले सकते हैं व इसके साथ साथ वहा की भूमि व समुद्रतट व खनिज पदार्थों को भी देख सकते हैं। इंगलेंड के दायें योरप के विभिन्न उन्नत राष्ट्र व दूसरी ओर अमेरिका, इनके बीच में इंगलेंड है। इंगलंड की भूमि अधिकतर कृषि योग्य नहीं है, क्योंकि वहा की भूमि का क्षेत्रफल कम है व पहाड़ी भूमि है। अत वह केवल औद्योगिक देश के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। इसीलिये इंगलंड उद्योगप्रधान देश है। कृषि गौणरूप से की जाती है। वहा की जनसंख्या का केवल ११ प्रतिशत कृषि या इससे सम्बन्धित कार्य में लगा हुआ है, जबकि हमारे यहा यह ७६ प्रतिशत है। इंगलैंड को इस प्रकार खाद्यान्नों की आवश्यकता है और वहा राशन प्रणाली है और दूसरे देशों से खाद्यान्न का आयात करना पड़ता है।

कृषि योग्य भूमि की कमी, क्षेत्रफल के हिसाब से इंगलैंड राजस्थान से भी कम क्षेत्रफल का है। उत्तर व पश्चिम में भूमि की बनावट पहाड़ियों के रूप में है। केवल दक्षिण पूर्वी भाग ही मैदान के रूप में है और इसी मैदान में गेहूं, जौ, चुकन्दर, आलू, फल व सब्जी आदि का उत्पादन होता है। भूमि का मूल्य वहा अधिक है, अत कृषि उत्पादन व्यय अधिक है। कृषि भूमि पर काम करने वाले मजदूरों की लागत भी बहुत ज्यादा है। निष्कर्ष यह है कि इंगलैण्ड का कृषि उत्पादन व्यय विदेशों से आयात किए हुए अनाज से अधिक होता है। गहन कृषि प्रणाली अपनाने के कारण देश की आवश्यकता की कुछ पूर्ति हो जाती है।

देश की भौगोलिक स्थिति ऐसी है तो दूसरी ओर प्राकृतिक साधन देश को औद्योगीकरण को प्रधानता दिए हुए हैं। वहा शक्ति की प्रचुर मात्रा उपलब्ध है। कोयला बड़ी मात्रा में अच्छी किस्म का मिलता है और कोयले की खानों के पास ही लोहे की भी खानें हैं। ये दोनों उद्योग की आधारशिला है। देश की जलवायु समशीतोष्ण है व मशीनों के निर्माण से सूती व ऊनी वस्त्र का विकास सम्भव हुआ। इसी कारण लंकाशायर व मानचेस्टर के पास विभिन्न सूती वस्त्र मिलें बनी थीं।

उस समय भूमि ४ भागों में विभाजित थी :—

(१) डेमसने (Demesne), जो ग्रामपति की भूमि होती थी।

(२) स्वतन्त्र या प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भूमि।

(३) दासों की–विलेन्स और काटर्स की भूमि।

(४) चारागाह, जो सब व्यक्तियों के पशुओं के लिए होते थे।

खेतों की कृषि की ३ खेत प्रणाली थी। इसके अनुसार १ खेत के ३ भाग कर उसमें से प्रतिवर्ष २ हिस्सों पर खेती की जाती थी व एक हिस्से को पालतू छोड़ दिया जाता था, जिससे वह फिर से अपनी उर्वरा शक्ति प्राप्त कर ले।

१५वीं तथा १६वीं शताब्दी में कृषि प्रणाली में परिवर्तन हुए। वाणिज्य–व्यापार में वृद्धि हुई तथा मुद्रा का भी प्रचलन हुआ। इससे दासों और मजदूरों की स्थिति में काफी सुधार हुआ। इस प्रकार १६वीं सदी तक मेनोरियल प्रणाली का अन्त हो गया। इसके निम्न कारण थे :—

(१) डेमसने भूमि की समाप्ति, मजदूरों के अभाव के कारण।

(२) भूमि का घेरा डालना या सामाकरण (Enclosure) :—बड़े बड़े उद्योग पतियों ने अपनी अपनी भूमि को या डेमसने भूमि को खरीदकर, उनके चारों ओर परकोटा डालना आरम्भ कर दिया। इन लोगों ने दासों की भूमि को भी खरीद लिया। इन बड़े बड़े खेतों में वे अधिकतर व्यापारिक कृषि करने लगे।

(३) भेड़ें पालने के व्यवसाय का विकास :—ऊन की अधिक माग तथा इस व्यवसाय में कम व्यय और कम श्रमिकों की आवश्यकता।

(४) दासवृत्ति की समाप्ति :—सन् १३४८ में प्लेग फैलने के कारण भारी संख्या में मजदूरों की मृत्यु व इसके कारण मजदूरों की कमी व शेष मजदूर उचित मजदूरी मागने लग गए थे।

(५) न्यायालयों की समाप्ति :—सरकारी न्यायालयों के खुल जाने से मेनोरियल प्रणाली के न्यायालय समाप्त हो गए। इस प्रकार लार्डस की प्रभुता भी समाप्त हो गई।

कृषि–क्रान्ति (Agricultural Revolution)

इगलैण्ड में १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिन्हें हम कृषि–क्रान्ति के नाम से पुकारते हैं। कृषि में यह क्रान्ति सन् १७५० से आरम्भ हुई और उन्नीसवीं सदी के मध्य तक चलती रही। इस क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन में खुले खेतों की प्रथा प्राय. समाप्त हो गई और उसका स्थान समावृत खेतों की प्रणाली ने ले लिया। त्रिक्षेत्रीय प्रथा तथा खेतों को खाली छोड़ दिये जाने की प्रथा के स्थान पर अर्थात् फसलों के हेरफेर की प्रणाली अथवा Rototion of Crops System अपनाई जाने लगी। कृषि का वैज्ञानिकीकरण हुआ और बीज बोने, फसल काटने एव पशुओं की नस्ल

सुधारने आदि के लिए नये नये तरीके काम में लाये जाने लगे। सन् १७८० में जब कि कृषि क्रान्ति प्रारम्भ हुई, उस समय कृषि की दशा इस प्रकार थी कि लगभग आधे गांवों में अब भी खुले खेतों की प्रथा प्रचलित थी। कृषि के तरीके प्राचीन एवं साधारण थे। प्रति एकड़ उपज कम थी। कृषकों की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्य, जैसे सूत व ऊन की कताई-बुनाई आदि भी घर पर ही कर लेते थे। इससे उन्हें कुछ अतिरिक्त आय हो जाती थी।

कृषि क्रान्ति के कारण

१८ वीं सदी में जिन कारणों ने कृषि क्रान्ति को जन्म दिया, वे निम्नलिखित थे—

(१) जनसंख्या की वृद्धि, (२) खाद्य पदार्थों का अभाव और मूल्य वृद्धि (३) ग्रामीण ऊनी वस्त्र व्यवसाय का पतन, (४) भूमिपतियों के पास अधिक पूंजी का संग्रह और (५) कृषि सुधारकों का कृषि सुधार के लिए जनता में प्रचार।

देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी साथ साथ ही खाद्य पदार्थों का अभाव हो रहा था। इससे खाद्यान्न के मूल्य बहुत अधिक बढ़ गये थे। खाद्य पूर्ति के लिए अधिक अन्न उत्पन्न करने की आवश्यकता थी तथा अन्न के बढ़े हुए मूल्य कृषि सुधार और विकास के लिए पर्याप्त आकर्षण प्रदान कर रहे थे। बड़े बड़े ग्रामपतियों के पास विकास के लिए आवश्यक पूंजी जमा हो गई थी। अतः वातावरण कृषि परिवर्तनों के अनुकूल था। इधर दूसरी ओर बड़े कृषि सुधारक रोबर्ट बेकवेल, आर्थर यंग, जैथरोटुल आदि अपने लेखों तथा भाषणों द्वारा जनता में प्रचार कर रहे थे। राजनैतिक वातावरण भी कृषि के विकास के लिए सहानुभूतिपूर्ण था। पार्लियामेन्ट में भी कृषक स्वार्थों का प्राधान्य था और अन्न कानून (Corn Laws) के पास होने से एक शताब्दी तक ब्रिटिश कृषकों के स्वार्थों की रक्षा हुई।

अन्न कानून (Corn Laws)

कृषि को प्रोत्साहन देने तथा भूमिपतियों के स्वार्थों की सुरक्षा करने के उद्देश्य से ब्रिटेन ने अनाज के आयात-निर्यात पर अन्न कानून बनाकर नियन्त्रण किया। सर्वप्रथम सन १६८६ में कार्न बाउन्टी एक्ट (Corn Bounty Act) बना, जिसका उद्देश्य अनाज के निर्यात को प्रोत्साहन देना था, क्योंकि उस समय ब्रिटेन की जनसंख्या कम थी और अन्न उत्पादन अधिक। बाद में परिस्थितियां बदल गईं और अनाज की कमी प्रतीत होने लगी। अतः इस नीति में परिवर्तन किया गया और सन् १७६३ तक ब्रिटेन से अनाज का निर्यात बन्द कर दिया गया। इस समय अनाज का बहुत अभाव हो गया और बाहर से अनाज का आयात करना पड़ा।

सन् १८१५ में युद्ध की समाप्ति होने पर ब्रिटेन के कृषक स्वार्थों ने अनाज के आयात पर नियन्त्रण लगाने की मांग की क्योंकि उन्हें यह आशंका थी कि बाहरी अनाज

की प्रतियोगिता के कारण देश में अन्न का मूल्य स्तर गिर जायगा और इस प्रकार कृषकों को हानि होगी। इस समय पार्लियामेन्ट में कृषक स्वार्थों का प्रभाव था। अतः सन् १८१५ में Corn Law पास किया गया, जिसके अनुसार गेहूं के आयात पर नियन्त्रण लगा दिया गया। राई, जौ और यई के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये। अनाज के भाव गिरने और मन्दी के कारण सन् १८२७, १८२८ और १८४२ में इसमें संशोधन करने पड़े, जिनके अनुसार मूल्य की उच्चतम सीमा और आयात करों की दर में परिवर्तन किये गये।

इनका प्रधान उद्देश्य यह था कि कृषि और कृषकों की उन्नति होगी, परन्तु यह नहीं हुआ। कृषि की दशा गिरती गई। इसके सिवा ये केवल एक विशेष वर्ग के स्वार्थ की पूर्ति के लिये बनाये गये थे। अतः ये जनता का समर्थन न प्राप्त कर सके। जनता को इनसे हानि उठानी पड़ी।

इसलिये इन कानूनों को समाप्त करने के लिये आन्दोलन आरम्भ हो गया। सन १८३८ में लंकाशायर के कुछ उद्योगपतियों ने मिलकर एक अन्न कानून विरोधी समिति (Anti Corn Law League) की स्थापना रिचार्ड कोबडन और जोन ब्राइट के नेतृत्व में हुई। सन १८४५ में आलू की फसलों के नष्ट हो जाने से सर रोबर्ट पील ने यह अनुभव किया कि अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध लगाना देश के हित में न होगा और फलस्वरूप १८६६ से अनाज का आयात स्वतन्त्र रूप से ब्रिटेन में होने लगा।

कृषि क्रान्ति की विशेषताएं

(१) समावरण आन्दोलन की पुनरावृत्ति।
(२) बड़े खेतों की प्रचुरता।
(३) कृषि का पूंजीवादी संगठन।
(४) कृषि के तरीकों में सुधार।
(५) छोटे कृषकों का लोप।

(१) समावरण आन्दोलन (Enclosure Movement)—जिन गावों में खुले खेत रह गये थे, वे घेरे जाने लगे। यहां तक कि सामान्य चारागाहों को भी घेर कर कृषि उत्पादन किया जाने लगा। सन् १८०१, १८३६ और १८४५ में समावरण अधिनियम पास किये गये जिनके कारण इस आन्दोलन को नया प्रोत्साहन मिला। फलस्वरूप १८५० तक प्राय सभी खेतों की बाड़ेबन्दी पूर्ण हो चुकी थी। खुले खेतों पर कृषि करना हानिकारक तथा मध्ययुगीन तरीका समझा जाने लगा।

समावरण आन्दोलन वास्तव में मेनोरियल प्रणाली का पतन होने से आरम्भ हुआ। कृषि दासों के स्वतन्त्र हो जाने और अन्न के स्थान पर ऊन की मांग बढ़ जाने के कारण भूमिपतियों ने अपने खेतों को घेर कर कृषि के बजाय भेड़ पालने का व्यवसाय

करना आरम्भ कर दिया। यह कार्य छोटे छोटे खेतों को मिलाकर या चारागाह या बंजर भूमि को घेर कर पूरा किया गया। इससे छोटे छोटे कृषकों को बहुत हानि हुई। लोग गाव छोड़ छोड़ कर नगरों में जाकर बसने लगे। अत जनता द्वारा इसका विरोध किया गया।

इस सम्बन्ध में सबसे पहला कानून सन् १२३५ में बना। १५वीं और १६वीं सदी में कई बार इसमें संशोधन किये गये। समावरण आन्दोलन जोर पकड़ता गया। समावरण आन्दोलन की पुनरावृत्ति १८वी सदी के मध्य में कृषि क्रान्ति के साथ हुआ। एडमस्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों ने कृषि में अपव्यय रोकने तथा खुले खेतों के दोषों से बचने के लिये समावरण का समर्थन किया। सन् १८०१ के कानून के अनुसार स्वेच्छापूर्वक समावरण करने के लिये सुविधा मिल गई। सन् १८३६ में दो-तिहाई बहुमत मिलने पर समावरण किया जा सकता था। सन् १८४५ में जनरल एनक्लोजर एक्ट बनाया गया, जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय समावरण मडल की स्थापना की गई।

समावरण के कारण धीरे धीरे बड़े खेतों की स्थापना हो गई। अच्छी कीमत मिलने के कारण छोटे कृषकों ने अपने खेत बेच दिये। सम्मिलित चरागाह होने से जनता को लकड़ी और चारे की कठिनाई होने लगी।

(२) बड़े खेतों की प्रमुखता —समावरण आन्दोलन के कारण छोटे कृषकों का खेती करना असम्भव हो गया। मूल्य स्तर बढ़ रहा था। बाड़ेबदी के लिये धन की आवश्यकता थी। चारागाहों को घेर लिया गया था तथा उनमें भी खेती होने लगी थी। चारे और लकड़ी का सर्वत्र अभाव होने लगा। इस काल में भूमि की माग बढ़ गई और भूस्वामी होना बड़ी प्रतिष्ठा की बात थी। उन दिनो पार्लियामेन्ट तथा स्थानीय सस्थाओं की सदस्यता के लिये खड़े होने वाले व्यक्ति के लिये भूस्वामी होना आवश्यक था। व्यापारी तथा उद्योग पतियों की इतनी प्रतिष्ठा न थी। अत वे भी ऊची कीमतों पर खेत खरीदने के लिये तत्पर पर रहते थे। इन सब कारणों से छोटे छोटे कृषक अपने खेत बेचकर शहरों में औद्योगिक मजदूर बन गये।

(३) *कृषि का पूंजीवादी सगठन*—कृषि अब बड़े आकार के समावृत खेतों के रूप में सगठित थी। इनके स्वामी धनी ग्रामपति थे। ये अपने धन का प्रयोग कृषि के विकास में करने लगे। मजदूरों के अभाव में नई मशीनों तथा यन्त्रों का प्रचलन बढ गया। कृषि व्यापारिक रूप से की जाने लगी। ऊचे मूल्यों के कारण कृषि अत्यन्त लाभदायक उद्योग हो गया और भूमिपति मालामाल होते गये।

(४) कृषि के तरीकों में सुधार —जनसख्या के बढने से खाद्यान्न की मांग में वृद्धि हुई, जिसकी पूर्ति करने के लिये कृषि के तरीकों में सुधार किया जाने लगा। श्रम एवं समय की बचत के उद्देश्य से नये नये प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार हुआ और उन्हें कृषि में प्रयोग किया जाने लगा। १८३८ में शाही कृषि परिषद् की स्थापना की गई और १८४२ में कृषि रसायन मण्डल स्थापित हुआ। फसलों के हेरफेर की प्रथा अपनाई गई और कृषि-

क्षेत्र में अनुसंधान व खोज के कार्य आरम्भ किये गये। पशुनस्ल सुधारने की ओर भी प्रयत्न किये गये। पशुओं को खुले चराने की प्रथा न रही और उन्हें प्रायः घेरों में ही चराया जाने लगा। भेड़ों और गायों की नस्लों में उन्नति हुई।

(५) छोटे कृषकों का लोप —समावरण आन्दोलन तथा व्यापारियों की प्रवृत्ति के कारण छोटे कृषकों का लोप हो गया। वे औद्योगिक नगरों की ओर प्रस्थान कर गये और वहाँ कारखानों में श्रमिक बन गये।

कृषि क्रान्ति के परिणाम

कृषि में हुई इस क्रान्ति का परिणाम यदि एक ओर कृषि उत्पादन के लिये उत्तम हुआ तो दूसरी ओर लाखों छोटे छोटे कृषकों के लिये घातक सिद्ध हुआ। नये तरीकों के कारण प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ गया। उत्पादन वृद्धि के कारण ब्रिटिश कृषि कई वर्षों के लिये आत्मनिर्भर हो गई, किन्तु साथ ही कृषि व्यवस्था पर केवल धनी और भूमिपतियों का एकाधिकार हो गया। भूमि से छोटे छोटे कृषकों को हट जाना पड़ा, क्योंकि वे धनाभाव के कारण नये तरीकों को अपनाने तथा प्रतियोगिता में ठहरने में असमर्थ थे। ये लोग शहरों में निराश्रित हो गये।

वैज्ञानिक तरीकों को अपनाने के कारण व्यापारिक फसलों को उगाया जाने लगा। क्रान्ति के फलस्वरूप किसानों के तीन समुदाय हो गये—खेतिहर किसान, कृषक और श्रमिक। साधारण जनता को ईंधन तथा चारे का अभाव हो गया। नगरों में बड़े बड़े कारखाने खुलने के कारण लोगों को सहायक कार्यों—यथा बुनने व कातने द्वारा अतिरिक्त आय से भी वंचित होना पड़ा।

ब्रिटिश कृषि (१८५० से प्रथम महायुद्ध के आरम्भ तक)

ब्रिटेन की कृषि के इन ६४ वर्षों (सन् १८५० से १९१४) के इतिहास को हम दो भागों में विभक्त कर अध्ययन कर सकते हैं। प्रथम काल सन् १८५० से १८७४ तक जो ब्रिटिश कृषि का स्वर्ण-युग कहलाता है और द्वितीय सन् १८७४ से १९१४ तक जिसे मन्दी का युग कहते हैं।

(१) स्वर्ण युग (१८५०–१८७४) सन् १८५० तक इंगलैंड की कृषि में आशातीत सुधार हो चुका था। कृषि क्रान्ति के फलस्वरूप समावरण आन्दोलन तथा बड़े बड़े खेतों की स्थापना हो चुकी थी। छोटे छोटे कृषकों का प्रायः लोप हो चुका था और वे बड़े नगरों में आ बसे थे। इस समय बेकारी समाप्त हो गई और कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों द्वारा लोगों की आय में वृद्धि हो रही थी तथा उनका जीवनस्तर बढ़ता जा रहा था। फसलों की हेरफेर की प्रणाली तथा रासायनिक खाद के कारण प्रति एकड़ उपज बढ़ गई।

इस समय देश में रेलों की स्थापना हो चुकी थी, जिससे माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता से भेजा जा सकने लगा। व्यापार और उद्योग की भी उन्नत अवस्था हो गई। अन्न की मांग बढ़ रही थी, जिससे अनाज के मूल्य में भारी वृद्धि हो चुकी थी। उद्योगों

में लगे हुए श्रमिकों का वेतन स्तर बढ़ता जा रहा था तथा जनता की सामान्य क्रयशक्ति भी बढ़ गई थी। व्यापार तथा उद्योग की सम्पन्नता का कृषि पर भी बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा। कृषकों को अच्छा लाभ हुआ और उनकी आय बढ़ी। कृषि सुधार तथा अनुसंधान के लिये कई संस्थाएं स्थापित हुईं। समय व श्रम बचत के लिये नाना प्रकार की मशीनों का आविष्कार किया गया, जिससे कृषि व्यवसाय बड़ा सरल हो गया। इसी काल में कृषि प्रदर्शिनियों तथा उपज प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया। यद्यपि अन्न कानून सन् १८४६ में ही समाप्त कर दिये गये थे तथापि बाहर से अन्न का आयात किया जा सकता था, परन्तु फिर भी कृषि इतनी उन्नत अवस्था में थी कि वह इस बढ़ी हुई माग की भली प्रकार पूर्ति कर सकती थी। बाहर से आयात किया अनाज महगा पड़ता था।

मन्दी का युग (१८७५ से १९१४)

ब्रिटेन की कृषि का यह स्वर्णयुग सन् १८७५ में समाप्त हो गया। उसके बाद कृषि व्यवसाय की स्थिति संकटकालीन हो गई। यह युग कृषि के लिये घोर मन्दी का था। इस मन्दी के कई कारण थे, जिनमें सबसे प्रमुख कारण १८७५ के पश्चात् बार बार फसलों का खराब होना था। १८८२ मे ड्यूक ऑफ रिचमण्ड की अध्यक्षता में जो राजकीय आयोग नियुक्त हुआ था, उसके अनुसार मन्दी के निम्न कारण थे —

(१) लगातार खराब फसलों के कारण अन्न की कमी हो गई। इस कमी को बाहर के देशों से खाद्यान्न आयात करके पूरी किया गया। विदेशी प्रतियोगिता के कारण भी कृषि को हानि उठानी पड़ी।

(२) १८७५ से १८८४ तक अधिक वर्षा एव अधिक शीत से फसलों को बहुत क्षति हुई। उसके बाद १९०० तक वर्षा की कमी के कारण उपज पर्याप्त न हो सकी।

(३) पशुओं में कई प्रकार की बीमारियां फैल गई। परिणामस्वरूप पशुओं, भेड़ों एव सुअरों की भारी संख्या में मृत्यु हो गई।

(४) सन १८८५ में कनेडियन पैसिफिक रेल्वे बन जाने से अमेरिका के उपजाऊ मैदानों का गेहूं ब्रिटेन के बाजारों में आने लगा। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, अरजेन्टाइना, रूस व भारत के गेहूं के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी उत्पन्न हो गई।

(५) प्रशीतन विधि के आविष्कृत हो जाने से आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेंड, अरजेन्टाइना तथा अमेरिका से भेड़ों तथा सुअरों का मांस आयात होने लगा। इसके अतिरिक्त मछली, मक्खन, पनीर, फल और सब्जी भी भारी परिमाण में इंगलैंड में आयात की जाने लगी। इससे ब्रिटिश कृषि में और भी मन्दी आ गई।

मन्दी के परिणाम

मन्दी का सबसे घातक परिणाम यह हुआ कि अनाज के मूल्यों में भारी कमी आ गई। कृषकों की आय बहुत कम हो गई। कृषि मजदूरों का वेतन भी घट गया। छोटे कृषकों

की तो दशा बहुत ही बिगड़ गई। वे निराश्रय होकर और गांवों को छोड़कर नगरों में बसने लगे।

इस समय इंगलैंड का उद्योग और व्यापार उन्नत अवस्था में था। पार्लियामेंट में भी ऐसे ही व्यक्तियों का बहुमत हो गया था। अतः निर्बाध व्यापार (Free Trade Policy) का अपनाया जाना स्वाभाविक ही गया। इस नीति के कारण ब्रिटेन में माल और खाद्य पदार्थों का आयात होने लगा। ब्रिटेन की कृषि को प्राप्त संरक्षण समाप्त हो गया।

सुधार के प्रयत्न

सन् १८६४ के बाद कृषि की गिरती हुई दशा चिन्ता का प्रश्न बन गया। उसके पुनर्निर्माण व सुधार के उपाय सोचे जाने लगे। लोग इन समस्याओं में रुचि लेने लगे। मन्दी के कारणों की जांच के लिये सन् १८८२ में एक शाही कमीशन की नियुक्ति हुई जिसने मन्दी के कारणों पर प्रकाश डाला। सन् १८९३ में एक और शाही कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने मन्दी के परिणामों एवं उपायों पर विचार किया तथा सुधार के लिये कई प्रस्ताव प्रस्तुत किये। इसके अनुसार विदेशी प्रतियोगिता को देखते हुए इंगलैंड में खाद्यान्नों की खेती करना लाभदायक नहीं था। ऐसी परिस्थिति में कृषि व्यवसाय द्वारा नई दिशायें अपनाये जाना आवश्यक था, जैसे बागबानी, तरकारी उत्पन्न करना, डेयरी व्यवसाय, भेड़ पालना तथा मुर्गा-मुर्गी पालना आदि।

बीसवीं सदी में प्रारम्भिक वर्षों में ब्रिटिश कृषि में सुधार के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे। लोगों ने खाद्यान्न बोना कम कर दिया तथा कृषि के सहायक उद्योग अपनाये जाने लगे। ब्रिटेन जो अब तक गेहूं में आत्मनिर्भर था, अब ६० प्रतिशत गेहूं का आयात करने लगा। इस प्रकार खाद्यान्नों की पूर्ति के लिये ब्रिटेन परावलम्बी हो गया। देश में जनसंख्या का केवल १० प्रतिशत भाग ही कृषि व्यवसाय में रह गया। वे भी खाद्यान्नों के स्थान पर मांस, ऊन, फल-फूल, तरकारियां, दूध, मक्खन, पनीर और अण्डों का उत्पादन करने लगे।

इन वस्तुओं के उत्पादन में अधिक व्यक्ति तथा मजदूरों की आवश्यकता थी। गांवों में बहुत थोड़े व्यक्ति रह गये थे, जो भी अकुशल थे। बड़े बड़े खेतों के कारण श्रमिकों का गांवों में कोई स्थान न था। अतः मजदूरों का अभाव था। कुशल मजदूरों को गांवों में रोकने और बसाने के उद्देश्य से छोटे छोटे खेतों की स्थापना में रुचि ली जाने लगी। सरकार ने भी इस दिशा में कदम उठाये। सन् १८८७ में यह कानून बना कि स्थानीय अधिकारियों को यह अधिकार होगा कि वे बड़े भूमिपतियों से भूमि खरीद कर अथवा पट्टे पर लेकर छोटे छोटे कृषकों को दें। यह लगभग वैसा ही आन्दोलन था, जैसे हम भारत में आज भूदान आन्दोलन के रूप में देखते हैं। सन् १९०७ में Small Holdings and Allotment Act पास किया गया जिसके अनुसार काउन्टी काउन्सिलों के लिये यह आवश्यक है कि वे भूमिहीन व्यक्तियों के लिये भूमि का प्रबन्ध करें। यह कानून बड़ा सफल रहा।

सन् १८८६ में कृषि बोर्ड की स्थापना हुई, जिसका कार्य कृषि सम्बन्धी शिक्षा का निरीक्षण व निर्देशन करना था। सहकारिता के सिद्धान्त को अपनाया गया तथा भूमि और कृषि कार्य के लिये उदारतापूर्वक ऋण दिये जाने लगे। पशुओं की बीमारियों की रोकथाम के लिये भी कई उपाय किये गये। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप १९१४ तक इंगलैंड की कृषि में पर्याप्त सुधार हो चुका था। यद्यपि उत्पादन की दृष्टि से इंगलैंड आत्मनिर्भर नहीं था, फिर भी संगठन एवं कुशलता की दृष्टि से ब्रिटेन का कृषि व्यवसाय फिर अपनी जड़ जमा चुका था।

प्रथम महायुद्ध तथा कृषि नीति

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंगलैंड में कृषि की दशा अच्छी न थी। शताब्दी के अन्त में कृषि का निम्न बिन्दु आ चुका था। किसानों ने यह अनुभव किया था कि उन्हें नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बदल जाना चाहिये। खाद्य पदार्थ के आयात को रोकने की वे आशा नहीं कर सकते थे। अनाज का आयात बराबर हो रहा था तथा रेल-मार्गों के विकास तथा जहाजरानी की उन्नति होने से सुदूरवर्ती खाद्यान्न उत्पादक देशों से बड़ी प्रतिस्पर्धा होने लगी थी। खाद्यान्नों के अतिरिक्त बड़े पैमाने पर मांस, पनीर, फल आदि का आयात हो रहा था।

यद्यपि बीसवीं सदी के आरम्भ में सरकारी प्रोत्साहन से कुछ सुधार हुआ, परन्तु फिर भी कृषि आत्मनिर्भर न हो पाई। ब्रिटिश कृषि वर्ष में केवल १२० दिनों के लिए खाद्यान्न उत्पन्न कर पाती थी, शेष दिनों के लिए आयात पर निर्भर रहना पड़ता था। जमे हुए मांस के आयात के बाद भी पशुपालन इंगलैंड में लाभप्रद बना रहा। क्योंकि यहां का मांस विदेशी मांस से सर्वश्रेष्ठ था। इनके साथ दूध, अण्डे, मक्खन, पनीर फल तथा तरकारियों की मांग बराबर बढ़ रही थी। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने तक इंगलैंड की कृषि कम हो गई तथा उसका स्थान कृषि के सहायक उद्योगों ने ले लिया।

सन् १९१४ में विश्वयुद्ध के कारण कृषि में पुनर्जीवन के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। विदेशों से आयात करना दुर्लभ हो गया तथा खाद्य पदार्थों की मांग तथा मूल्य बढ़ने लगे। अत: अनाज उत्पन्न करने की आवश्यकता अनुभव की गई तथा कृषि के विकास के लिए अनुकूल वातावरण तैयार होने लगा। ऐसे स्थानों पर भी कृषि की जाने लगी, जहां अब तक घास ही उत्पन्न की जाती थी।

सन् १९१६ में खाद्य मंत्रालय स्थापित किया गया तथा एक खाद्य नियंत्रक की नियुक्ति की गई। प्रत्येक जिले में खाद्य समितियों की स्थापना हुई। खाद्य पदार्थ के उपभोग उत्पादन, यातायात एवं संचय के संबंध में नियन्त्रण लगाया गया। राशनिंग द्वारा मांग और वितरण व्यवस्था में कुछ सुधार हुआ, किन्तु उत्पादन विशेष नहीं बढ़ सका।

सन् १९१७ में अन्न उत्पादन कानून बनाया गया, जिसके द्वारा गेहूं और जई के

न्यूनतम लगान और वेतन निश्चित किए गए। केन्द्रीय कृषि बोर्ड और वेतन समितियां नियुक्त की गई।

सन् १६१६ में ब्रिटिश कृषि की जांच के लिए शाही कमीशन नियुक्त हुआ और सन् १६२० में कृषि अधिनियम पास हुआ, जिसका उद्देश्य युद्ध के उपरान्त ब्रिटिश कृषि का स्थायी सुधार करना था।

प्रथम महायुद्ध के की समाप्ति के बाद युद्ध के पूर्व की सामान्य दशाओं के कारण ब्रिटिश कृषि फिर कठिनाई में पड़ गई। विदेशों से अतिरिक्त खाद्यान्नों का आयात प्रारम्भ हो गया। ब्रिटिश कृषि विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने में असमर्थ हो गई। इसका कारण सरकारी अबाध व्यापार नीति (Free Trade Policy) था। ब्रिटिश श्रमिकों की ऊंची वेतन दरें भी थीं। जिनसे उत्पादन व्यय बढ़ गया, परिणामस्वरूप ब्रिटिश कृषि संकुचित होने लगी। कृषि की अपेक्षा पशुपालन अधिक लाभप्रद हो गया। दूसरी ओर राज्य की ओर से कृषकों को उपज के लिए न्यूनतम मूल्य की व्यवस्था थी, परन्तु मूल्य न्यूनतम दरों से भी नीचे गिर रहे थे। अतः राज्य द्वारा सहायता देने के कारण सरकार को लाखों पौंड की हानि प्रतिवर्ष हो रही थी।

अन्त में विश्व मन्दी से विवश होकर सन् १६२१ से अन्न के न्यूनतम मूल्यों की गारंटी दिए जाने की नीति का परित्याग करना पड़ा। सरकारी कृषि नीति के बारे में भारी मतभेद उत्पन्न हो गया। राष्ट्रीय कृषक संघ ने कृषकों के लिए खास सुविधाओं तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण की मांग की। मजदूर दल ने कृषक श्रमिकों के लिए उच्च मजदूरी तथा अन्य सुविधाओं की मांग की। भूमि के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया, अतः कृषि की दशा में सुधार करना आवश्यक हो गया।

कृषि की दशा सुधारने के लिए सन् १६२३ में कृषि साख विधान पास किया गया, जिसके द्वारा उन कृषकों को जिन्होंने युद्धकाल में भूमि खरीदी थी, दीर्घकालीन ऋण देने की व्यवस्था की गई। इससे अनेक कृषकों को लाभ हुआ।

सन् १६२४ में कृषि वेतन समितियों की स्थापना की गई, जिनका उद्देश्य कृषि श्रमिकों का वेतन निश्चित करना था। सन् १६२८ में एक दूसरा कृषि साख नियम पारित हुआ, जिसके अनुसार एक कृषि साख निगम की स्थापना की गई। इसके द्वारा उचित ब्याज पर लम्बी अवधि के लिए ऋण दिया जाता था।

इन सुधारों के अतिरिक्त कृषि उपज के लिए विपणन की भी समुचित व्यवस्था की गई। सन् १६३१ में (Agricultural Marketing Act) पास हुआ, जिसके अनुसार विपणन बोर्ड विभिन्न पदार्थों के क्रय विक्रय उत्पादन एवं मूल्य निश्चित करने के लिए स्थापित किए जा सकते थे।

सन् १६३१ ब्रिटिश कृषि के इतिहास में महत्वपूर्ण वर्ष माना जाता है। इस वर्ष सरकार ने निर्बाध व्यापार की नीति को त्याग दिया और संरक्षण की नीति अपनाई। इस

नीति के अनुसार १६३२ से रुई, आलू, कृषि मशीनों, खाद आदि के आयात पर आयात कर लगा दिए। कृषि पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए कृषकों को सरकार द्वारा धन के रूप में सहायता दी जाने लगी। परिणामस्वरूप १६३७—३६ तक ब्रिटिश कृषि की दशा में पर्याप्त सुधार हो गया और कृषि पदार्थों के मूल्य कुछ बढ़ गए।

द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटेन में फिर खाद्य समस्या गम्भीर हो गई। देश का उत्पादन घरेलू माग की पूर्ति के लिए अपर्याप्त था तथा बाहर से अनाज का आयात करना कठिन हो गया। अत कृषि के सम्बन्ध में प्रगतिशील नीति अपनाई गई। सन् १६३६ में कृषि मन्त्रालय को कृषि के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार दिये गये। एक कृषि प्रबन्धक समिति नियुक्त हुई। यह समिति भूमि के अपव्यय को रोकने एव भूमि के लाभप्रद उपयोग के सम्बन्ध में अपने अधिकारों का प्रयोग करती थी। कृषि के फैलाव या उत्पादन वृद्धि के लिए कई अन्य उपाय किये गये। परिणामस्वरूप कृषि का क्षेत्रफल तथा उत्पादन भी बढ़ गया। माग को नियन्त्रित करने के लिये राशनिंग एव मूल्य नियन्त्रण की प्रणाली काम में लाई गई। सन् १६४७ में ब्रिटिश कृषि एक्ट पास किया गया, जिसका प्रधान उद्देश्य कृषि मूल्यों में स्थिरता लाना, कृषि उत्पादन बढ़ाना तथा कृषि-कुशलता में वृद्धि करना और लोगों को भूमि दिये जाने की व्यवस्था करना था।

१६५८ में ब्रिटिश कृषि की उन्नति के लिये गेहू की अपेक्षा चारे की फसलों पर अधिक ध्यान देने, अधिक माग की उपज बढ़ाने तथा दूध, मांस व अण्डों के उत्पादन को बढ़ाने के सुझाव रखे गये। सरकार ने कृषि को आर्थिक सहायता भी प्रदान की जिससे उद्योग का तीव्र गति से विकास हो सके।

प्रश्न

1. Give the sabent features of Agricultural Revolution
2. Give a short analysis of leading features of British Agricultural Policy during world war I
3. Trace the history fo English Agriculture from 1914 to 1939
4. Indicate the important reforms made in English Agriculture after 1939

अध्याय ३

औद्योगिक क्रान्ति

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व आर्थिक स्थिति

सन् १७६० से इंगलैंड के आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न परिवर्तन होने लगे, जिन्होंने वहाँ के आर्थिक जीवन में उथलपुथल मचा दी। इन परिवर्तनों का अध्ययन करने से पूर्व वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति से पहले की आर्थिक अवस्था का विचार करना आवश्यक है।

सन् १७६० से पूर्व इंगलैंड की अर्थ व्यवस्था कृषिप्रधान तथा व्यापारिक थी, परन्तु औद्योगिक न थी। लगभग ७० प्रतिशत जनसंख्या गावों में ही रहती थी। नगरों का अधिक विकास न हो पाया था।

कृषि बहुत ही साधारण अवस्था में थी और कृषि का कार्य परम्पराओं एवं प्रथाओं के अनुसार चल रहा था। खेत छोटे आकार के थे और कृषि सामूहिक रूप से की जाती थी। तीन खेत का प्रचलन था, जिसके अनुसार खेत के तीन टुकड़ों में से एक को प्रतिवर्ष खाली छोड़ दिया जाता था, जिससे वह अपनी उर्वरा शक्ति फिर से प्राप्त कर ले।

चरागाह का उपयोग सब कर सकते थे, परन्तु अधिकार सामूहिक न थे। फसलें बहुत थोड़ी थीं तथा अदल-बदल की प्रथा का ज्ञान न था। भेड़ों के पालने का व्यवसाय उचित ढंग से नहीं किया जाता था। कृषि के यन्त्र पुराने तथा पिछड़े हुए थे।

उद्योग-धन्धों में सबसे महत्वपूर्ण उद्योग ऊन का था, जिसके प्रमुख केन्द्र नारविच, मैनग्लैन, साउथेम्पटन। दूसरा मुख्य उद्योग लोहे का था, जो लगभग साइपवैल्स में ही केन्द्रित था। लोहा पहले लकड़ी के कोयले द्वारा पिघलाया जाता था, परन्तु अब कोयले से उत्पन्न कोक से। कपड़े का उद्योग अधिक महत्वपूर्ण न था। इसके केन्द्र लङ्काशायर, मैनचेस्टर व बोल्टन थे। सूत कातने तथा बुनने वाले गावों में रहते थे। उद्योग का सञ्चालन वस्त्र व्यापारी के हाथ में था जो शहर में रहता था। धुलाई, रंगाई, छपाई शहरों में होती थी। इसके अतिरिक्त सिल्क उद्योग तथा होजरी उद्योग भी विद्यमान थे। अधिकतर औद्योगिक उत्पादन घरेलू था और पूंजीपति अधिक सम्पन्न न थे।

व्यापार अधिक विस्तृत न था। अधिकतर मेलों में व्यापार होता था। जहाजों के निर्माण के कारण व्यापार उन्नति करने लगा था। यातायात के साधन विकसित नहीं थे।

सड़कों की दशा बहुत हीन थी। सन् १७६० के आसपास नहरों द्वारा कुछ यातायात होता था। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व इंगलैंड की दशा का वर्णन संक्षेप में हम जी० डी० एच० कोल के शब्दों में कर सकते हैं,—"इंगलैंड एक व्यापारिक दृष्टि से उन्नत तथा औद्योगिक प्रगति में उत्साह देने वाला राष्ट्र था, न कि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत एवं व्यापारिक खोज करने वाला राष्ट्र।"

औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)

सन् १७५० से १८५० के काल में इंगलैंड के आर्थिक क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए, उन्हें औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है। सन् १७६० इंगलैंड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण वर्ष माना जाता है, क्योंकि इसके पश्चात् ही इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ।

प्राय: क्रान्ति शब्द का अर्थ खूनी विद्रोह अथवा आकस्मिक उथल पुथल लगाया जाता है, जैसे १७८९ की फ्रांस की क्रान्ति अथवा सन् १९१७ की रूसी क्रान्ति। यदि हम उक्त काल में हुए इंगलैंड के आर्थिक परिवर्तनों का अर्थ इसी दृष्टिकोण से लगाते हैं तो उन्हें क्रान्ति कहना अनुचित होगा क्योंकि वहां इस काल में न तो कोई खूनी विद्रोह ही हुआ और न कोई आकस्मिक उथल पुथल ही। ये परिवर्तन औद्योगिक क्षेत्र में सन् १७६० से होने आरम्भ हुए और शनै शनै सन् १८५० तक होते रहे। ऐसे शान्त एवं सुव्यवस्थित परिवर्तनों को यदि हम क्रान्ति के स्थान पर क्रमिक विकास कहें तो अधिक उपयुक्त होगा।

किन्तु फिर भी इन औद्योगिक परिवर्तनों को क्रान्ति ही कहा जाता है। बड़े बड़े लेखकों ने इनके लिये औद्योगिक क्रान्ति शब्द का ही प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि औद्योगिक क्षेत्र में हुए इन परिवर्तनों के परिणाम इतने महत्वपूर्ण थे कि उन्होंने इंगलैंड के आर्थिक क्षेत्र के प्रत्येक अंग में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी। यद्यपि उस समय के लोगों को कदाचित् इस बात का आभास नहीं हुआ कि असाधारण परिवर्तन हो रहे हैं, किन्तु फिर भी ये परिवर्तन इतने क्रान्तिकारी थे कि इन्होंने न केवल उद्योगों में ही बल्कि कृषि, व्यापार एवं यातायात में भी आश्चर्यजनक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। जिस प्रकार क्रान्ति के पश्चात् प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था का जन्म होता है, उसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंगलैंड में जिस नई आर्थिक व्यवस्था का जन्म हुआ, वह प्राचीन से नितान्त भिन्न थी। यही नहीं इंगलैंड की इस क्रान्ति का विश्व के अन्य देशों की आर्थिक व्यवस्था पर भी गहरा और निश्चित प्रभाव पड़ा। अत: इसे क्रान्ति कहना ही उचित होगा। नॉविल्स (Knowles) के अनुसार इसे क्रान्ति इसलिए नहीं कहा जाता कि जो परिवर्तन हुए वे बड़ी शीघ्रता से हुए, बल्कि इसलिये कहा जाता है कि जो परिवर्तन हुए, वे महत्वपूर्ण या क्रान्तिकारी थे।

औद्योगिक क्रान्ति ब्रिटेन में सर्वप्रथम हुई:—

वैसे औद्योगिक क्रान्ति ग्रेट ब्रिटेन में हुई, वैसे ही अन्य देशों में भी हुई। परन्तु ब्रिटेन अन्य देशों का अग्रणी रहा। इसके कई कारण थे.—

(१) उत्तम भौगोलिक स्थिति:— इंगलैंड योरप के इतने निकट है कि सरलतापूर्वक व्यापारिक सम्बन्ध रख सकता है, परन्तु इंगलिश चैनल के द्वारा महाद्वीप से पृथक् भी है। अतः स्थानीय आक्रमणों से सुरक्षित रहा है। दूसरी ओर अटलान्टिक महासागर के उस पार अमेरिका का घनी महाद्वीप है। इस प्रकार इंगलैंड दोनों महाद्वीपों के मध्य स्थित है। स्वेज नहर के निर्माण के बाद से तो यह विश्व के सब देशों से सम्पर्क स्थापित करने में सफल हो सका और औद्योगिक क्रान्ति के लिये उपयुक्त हुआ।

(२) अनुकूल जलवायु.— यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। न यहां कडु सर्दी होती है और न विषम गर्मी। जलवायु की यह समता यहां के निवासियों को कठिन शारीरिक और बौद्धिक परिश्रम के लिये प्रेरित करती रही, जिसके फलस्वरूप औद्योगिक क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन सबसे प्रथम इंगलैंड में हो सम्भव हो सके। जलवायु के अनुकूल होने से ही यहां महीन व उत्तम प्रकार का वस्त्र उद्योग सरल हो सका।

(३) कटा-फटा समुद्रतट:— यहां के समुद्रतट की लम्बाई ७००० मील है और यह इतना कटा-फटा है कि सुरक्षित खाड़ियां बन गई हैं, जिनमें अनेक विश्वविख्यात प्राकृतिक बन्दरगाह हैं। देश का कोई भाग समुद्र से ८० मील से दूर नहीं है। इसी कारण यहां का जहाजी बेड़ा भी उन्नति कर गया। जहाज निर्माण उद्योग और मत्स्य व्यवसाय भी यहां अधिक विकसित हो सके।

(४) पूंजी की प्रचुरता.— इंगलैंड के व्यापारियों ने १७वीं और १८वीं शताब्दी में व्यापार में काफी धन एकत्रित कर लिया था। इस पूंजी की प्रचुरता के कारण ही यहां बैंकिंग व्यवसाय का विकास पहले हुआ, जिसने यहां नये उद्योगों के विकास में सहायता दी। साहसी प्रकृति के ब्रिटिश व्यापारियों ने नये आर्थिक कार्यों में रुपया लगाने का जोखिम उठाया, जिसके कारण वहां आर्थिक क्रान्ति हुई।

(५) श्रमिकों की सुलभता :—मेनोरियल प्रणाली की समाप्ति के फलस्वरूप गांवों के निरुभित लोग शहरों में आकर बस गये थे और नगरों में ऐसे लोगों की वृद्धि होती जा रही थी। अतः उद्योगों में श्रमिकों को कार्य मिलता गया और उद्योगों को श्रमिकों की कमी नहीं प्रतीत हुई।

(६) व्यापार क्षेत्र का विस्तार :—सन् १७६० के बाद इंगलैंड का शासन कई महाद्वीपीय देशों में कायम हो चुका था और उसके उपनिवेशों के बाजार उसके हाथ में आते जा रहे थे। इन देशों से कच्चा माल प्राप्त करने और इंगलैंड में निर्मित माल वहां बेचने की सम्भावनाएं बढ़ गई थीं। योरप के अन्य देशों में ऐसी परिस्थितियां नहीं थीं।

इंगलैंड ने इन परिस्थितियों का लाभ उठाया, जिसके कारण सर्वप्रथम वहीं उद्योग का विकास हुआ।

(७) राजनैतिक सुदृढ़ता —राजनैतिक स्वतन्त्रता और आन्तरिक शान्ति इस देश के जीवन की एक विशेषता रही है। यह देश योरप का एक भाग होते हुए भी योरप से पृथक् रहा है। यही कारण था कि जब महाद्वीप के अन्य देश गृहयुद्धों एवं बाहरी आक्रमणों से त्रस्त रहे, तब इंगलैंड इनसे बिल्कुल वंचित रहा और इसको व्यापार व उद्योग का विकास करने का अवसर मिल गया।

(८) कोयले और लोहे की खानें ।—कोयले और लोहे का इंगलैंड के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भाग रहा है। इन खनिज पदार्थों के साथ साथ कारखानों की स्थापना सरल हो गई जो औद्योगिक क्रान्ति के विशिष्ट अंग बन गये।

(९) आविष्कार :—स्वचालित या शक्तिचालित यन्त्रों के आविष्कार सर्वप्रथम वहीं हुए—मुख्यकर ऊनी और सूती वस्त्र उद्योगों में। इन आविष्कारों ने बाद में रासायनिक व लोह उद्योगों में भी अभूतपूर्व परिवर्तन किये। इस प्रकार उत्पादन के लिये मशीनों का प्रचलन होता गया।

(१०) ब्रिटिश सरकार ने भी वहां के उद्योग धन्धों के विकास में काफी आर्थिक सहायता दी। आविष्कारों के पेटेन्ट कराने की सुविधाएँ दी गईं और रायल सोसाइटी आफ आर्ट्स ने आविष्कारों को उत्साहित किया। फ्रांस की वस्तुओं का आयात बन्द कर दिया गया और १७६६ में फ्रांस निर्मित रूमाल रखने पर एक ब्रिटिश स्त्री पर २०पौंड का जुर्माना किया गया।

औद्योगिक क्रान्ति की विशेषताएँ

नॉविल्स (Knowles) के अनुसार इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति में निम्नलिखित ६ महत्वपूर्ण परिवर्तनों का समावेश था और ये परिवर्तन परस्पर एक दूसरे से प्रभावित थे।

(१) सूती वस्त्र उद्योग में मशीनों की मरम्मत तथा निर्माण के लिए दक्ष लोगों की आवश्यकता थी। अतः इंजिनियरिंग उद्योग का विकास हुआ। अन्य भारी मशीनों, रेल्वे इन्जिनों आदि के निर्माण के लिये इस उद्योग का विकास आवश्यक था। किन्तु इस उद्योग के लिए लोहे और इस्पात उद्योग का विकास होना भी जरूरी था।

(२) इंजिनियरिंग उद्योगों में मशीन तथा औजार बनाने के लिए इस्पात तैयार करना आवश्यक था क्योंकि अच्छी स्टील के अभाव में मशीनें नहीं बन सकती थी। अतः अच्छे किस्म का इस्पात निर्माण करने की नई प्रक्रियाओं का आविष्कार किया गया।

(३) स्टीम से चलने वाली इन मशीनों का प्रयोग सूती वस्त्र उद्योग में किया गया। सन् १७६४ में स्पिनिंग जेनी (Spinning Jenny) का आविष्कार हुआ।

सन् १७६८ में आर्कराइट ने वाटर फ्रेम तथा क्राम्पटन (Crompton) ने म्यूल (Mule) का आविष्कार किया। इन मशीनों से कातने में सरलता हो गई। सन् १८१५ तक कार्ट्राइट (Cartwright) तथा जान्सन (Johnson) के प्रयत्नों से शक्तिचालित करघे का आविष्कार हुआ, जिससे बुनाई भी सरल हो गई। बाद में इन मशीनों का उपयोग ऊनी वस्त्र उद्योगों में भी हो गया।

(४) रासायनिक उद्योगों का भी विकास हुआ। कपड़ों की धुलाई, रंगाई व छपाई आदि के लिये विविध प्रकार के रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता अनुभव हुई। अब बड़े बड़े रासायनिक कारखानों का निर्माण किया गया।

(५) उपर्युक्त सारे उद्योगों के लिए कोयले की भारी परिमाण में आवश्यकता थी, क्योंकि यही शक्ति का प्रमुख साधन था। अब कोयला उद्योग का विकास अनिवार्य था। इसमें भी वाष्प इ जिन ने बड़ी सहायता दी क्योंकि गहरी कोयलों की खानों से कोयला उठाने और पानी बाहर निकालने में इन इ जिनों ने ही सहायता दी। अतः भारी मात्रा में कोयले का उत्पादन सम्भव हो गया।

(६) इतने उद्योगों के विकास तथा बृहद् परिमाण में उत्पादन के साथ साथ यातायात के शीघ्र साधनों का विकास आवश्यक था, क्योंकि कच्चा माल, निर्मित माल, तथा कोयला एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना जरूरी था। इसमें रेल्वे इन्जिन ने सहायता दी और इंगलैंड के बड़े बड़े नगर रेलों से मिला दिये गये, जिससे माल आदि के यातायात का प्रश्न सरल हो गया।

इन परिवर्तनों ने इंगलैंड के सारे आर्थिक जीवन का ढाचा ही बदल दिया। आर्थिक जीवन में परिवर्तन के साथ साथ लोगों के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में भी परिवर्तन हुए। देश में एक नये युग का आरम्भ हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव

सामाजिक प्रभाव :—

(१) औद्योगिक क्रान्ति के कारण ब्रिटेन की जनसंख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। प्रथम जनगणना १८०१ में हुई थी। अनुमान से १७५० में ब्रिटेन की जनसंख्या ६० लाख थी यह बढ़कर १८०१ में ८७ लाख हो गई। १८५१ तक यह दुगुनी हो गई। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व अधिकांश व्यक्ति गावों में रहते थे। ब्रिटेन की आबादी अधिकांश दक्षिण-पूर्व के जिलों में थी। उत्तरी इंगलैंड बहुत कम बसा हुआ तथा वीरान था। औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नगरों की जनसख्या में वृद्धि हुई तथा दक्षिण वेल्स एवं मिडलैंड के कोयला तथा लोहा क्षेत्रों में आबादी घनी हो गई। वर्तमान समय में इंगलैंड ३/४ से अधिक जनसख्या नगरों में निवास करती है।

(२) श्रमिक वर्गों सम्बन्धी कई समस्याएं उत्पन्न हो गई। चूंकि उस समय निर्बाध व्यापार नीति के सिद्धान्त उन्नति पर थे तथा राज्य नियंत्रण एवं नियमन समाप्त

हो रहे थे। इनके कारण श्रमिक वर्ग पर कुप्रभाव पड़ा। उन्हें संरक्षण मिलना बन्द हो गया। वे अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते थे। प्रारम्भ में श्रमिक संघों की स्थापना करने के प्रयत्न भी कानून द्वारा दबा दिये गये।

(३) फैक्टरी सिस्टम के सूत्रपात के समय श्रमिक तथा यन्त्रों का सम्बन्ध बदल गया। पहिले यहां श्रमिकों की शक्ति से कार्य होता था, अब श्रमिक केवल मशीनों के सहायक तथा नियन्त्रक मात्र हो गये। उत्पादन करने वाली मशीनों का स्थान प्रमुख व श्रमिकों का स्थान गौण हो गया।

(४) इस समय इंगलैंड में पूंजी पर्याप्त मात्रा में एकत्रित हो रही थी, अतएव इंगलैंड में एक नये वर्ग-पूंजीपतियों का उदय हुआ। पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के सम्बन्ध बिगड़े, जिनसे कई नए औद्योगिक संघर्ष की समस्याएं उत्पन्न हुईं।

(५) सस्ती वस्तुओं के उत्पादन के कारण श्रमिकों की आवश्यकताएं बढ़ गई तथा उनका जीवन स्तर भी बढ़ा। श्रमिक वर्ग को अपार कष्ट हुआ। यद्यपि उन्हें रोजगार मिल सकता था, पर निर्बाध नीति के कारण सरकारी हस्तक्षेप के अभाव, पूंजीपतियों की श्रमिक वर्ग के प्रति अपनाई जा रही नीति, कम मजदूरी, अधिक कार्य के घण्टे, शहरों के निकट रहन सहन योग्य मकानों के अभाव के कारण उनकी स्थिति अमेरिका के नीग्रो दासों से भी अधिक शोचनीय हो गई थी।

(६) फैक्टरी सिस्टम के कारण देश की पूंजी तथा सम्पत्ति में अपार वृद्धि हुई। दूसरी ओर औद्योगीकरण के कारण श्रमिकों को संगठित होने का अवसर मिला और यद्यपि कुछ समय तक उनकी स्थिति दयनीय रही परन्तु तुरन्त यह अनुभव किया गया कि श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाना उतना ही आवश्यक है, जितना कि कारखानों का उत्पादन। उद्योगों के विकास से इंगलैंड में रोजगार सम्बन्धी समस्याओं का अन्त हुआ।

आर्थिक राजनैतिक प्रभाव

(१) नये उद्योगों का विकास हुआ।

(२) व्यापार में क्रान्ति हुई, व्यापार का क्षेत्र बढ़ गया। इंगलैंड में बाहर से कच्चा माल और खाद्य पदार्थ आने लगे और निर्मित माल बाहर जाने लगा।

(३) इंगलैंड के उत्तरी जिलों का महत्व बढ़ गया क्योंकि कोयला और लोहे की खानें उनके समीप थीं और उद्योग वहीं स्थापित हुए।

(४) उत्पादन का आकार बढ़ गया, श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण का जन्म हुआ।

(५) कई प्रकार के सहायक उद्योग खुल गये—मध्यस्थ लोगों को कार्य मिलने लगा।

(६) बैंकिंग तथा बीमा व्यवस्था और यातायात में भी भारी परिवर्तन हुआ। इंगलैंड की सरकारी नीति में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ तथा कम से कम सरकारी हस्तक्षेप की नीति अपनाई जाने लगी।

हो गई कि उसका कपड़ा बनाने के लिए बुनकरों की कमी होने लगी। अत. अब कपड़ा बुनने के लिए उत्तम करघो का आविष्कार करने के लिए प्रयत्न किया जाने लगा। यह आविष्कार सन् १७८५ में एडमन्ड कार्टराइट ने किया। यह भाप की शक्ति से सचालित किया जाता था और इस प्रकार कपड़ा शीघ्र बुना जाने लगा। बाद में इसमें कई सुधार किये गये।

इन चारों आविष्कारकों ने सूती वस्त्र उद्योग में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिये। बड़े बड़े कारखानों की स्थापना हुई एवं लकाशायर विश्व का सबसे बड़ा सूती वस्त्र उद्योग का केन्द्र बन गया। बाद में इन मशीनों का उपयोग ऊनी व रेशमी वस्त्र उद्योगों में भी किया जाने लगा।

प्रश्न

1. Is it correct to call what took place in England between 1750 and 1850 an Industrial Revolution ? Explain the term. Why did it occur first in England ?
2. Give a brief sketch of Industrial Revolution. How did it affect the people of England ?
3. Discuss the importance of Arkwright, Carrtwright, Crompton & Kay in British Industrial History.
4. Describe the economic, social & political effects of Industrial Revolution in England.

अध्याय ४

प्रमुख उद्योग

१९वीं सदी तक इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति सफलता की चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी और वह विश्व का नेता बन चुका था। इंगलैंड के उद्योगों में हम यहां के तीन प्रमुख उद्योगों का अध्ययन करेंगे — (१) वस्त्र उद्योग, (२) कोयला उद्योग और (३) लोहा व इस्पात उद्योग।

(१) सूती वस्त्र उद्योग

१८वीं सदी तक इंगलैंड सूती वस्त्रों का उत्पादक नहीं था। ऊनी वस्त्रों का उत्पादन यहां प्रचुरता से होता था किन्तु सूती वस्त्र यहां भारत से आयात किया जाता था। १८वीं सदी के अन्त में कुछ ऐसी घटनाएं हुईं, जिनके कारण वह स्वयं एक बड़ा भारी सूती वस्त्र उत्पादक बन गया। इसके निम्नलिखित कारण थे —

(१) १८वीं सदी में इंगलैंड में ऊन का अभाव।

(२) सन् १७०० के बाद भारतीय वस्त्रों के आयात पर प्रतिबन्ध।

(३) इंगलैंड के व्यापारियों द्वारा सूती कपड़े की मांग।

(४) सन् १७६० के बाद कताई और बुनाई में नये नये आविष्कारों का होना जैसे Spinning Jenny, Water Frame, Mule आदि जिनका विस्तृत वर्णन पूर्व अध्याय में किया गया है।

(५) रासायनिक उद्योग के विकास के कारण धुलाई, रंगाई एवं छपाई के कार्य में सुगमता हुई।

(६) उपनिवेशों की स्थापना के कारण विस्तृत बाजारों का प्राप्त हो जाना, जिसके फलस्वरूप भारी तादाद में इंगलैंड के कपड़े की खपत अन्य देशों में सम्भव हो गई।

(७) यातायात के उत्तम व शीघ्र साधनों का विकास यद्यपि इंगलैंड न तो कपास का उत्पादक ही रहा है और न वहां सूती वस्त्रों का इतना अधिक प्रयोग ही किया जाता है, परन्तु उसके अध्यवसाय, साहस, कुशलता और आविष्कारों के कारण ही इस उद्योग का विकास सम्भव हो सका। इस उद्योग की उन्नति वहां इतनी अधिक हुई कि प्रथम विश्वयुद्ध के समय इंगलैंड विश्व का सबसे बड़ा सूती वस्त्र उत्पादक बन गया था।

इंगलैंड में इस उद्योग के लंकाशायर के पास स्थापित होने के निम्न लिखित कारण थे—

(१) अनुकूल जलवायु—लंकाशायर में साल भर वर्षा होती रहती है, अतः वहां की जलवायु नम है तथा उस जलवायु में धागा नहीं टूटता है और बारीक सूत की कताई सम्भव है।

(२) पहाड़ों के नालों तथा झरनों से स्वच्छ जल की प्राप्ति हो जाती है, जो कपड़े व सूत की धुलाई के लिये आवश्यक है।

(३) लंकाशायर के समीप ही कोयले की खानों के होने के कारण कपड़े की मिलों को आवश्यक शक्ति उपलब्ध हो गई।

(४) कपास के आयात और वस्त्रों के निर्यात के लिये लिवरपूल (Liverpool) का आदर्श बन्दरगाह।

यद्यपि प्रथम महायुद्ध के समय कुछ कठिनाइयां आई, परन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद से फिर पूर्वी देशों में मांग कम होने के कारण वस्त्र उद्योग उन्नति करने लगा। सन् १९२० तक यह उद्योग एक सफल उद्योग था। उसके बाद विश्व-मन्दी के कारण उद्योग की दशा गिरने लगी और तब से आज तक गिरती ही जा रही है। इसके निम्न कारण हैं—

(१) पूर्वी देशों में औद्योगिक प्रगति—भारत, चीन जापान तथा मध्यपूर्व के देशों में औद्योगीकरण की गति तीव्र हो गई। इन देशों ने सूती वस्त्र उद्योग स्थापित कर लिये और इस प्रकार ब्रिटिश वस्त्र की मांग कम हो गई।

(२) विदेशी प्रतियोगिता—सन् १९२० के बाद जापान में सूती वस्त्र का विकास अधिक होने लगा और वह ब्रिटेन के साथ प्रतिस्पर्धा करने लगा। जापानी कपड़ा सस्ता होने के कारण दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अनेक देशों के बाजारों में बिकने लगा।

(३) राष्ट्रीय भावना व आयात कर—बहुत से देशों में राष्ट्रीय भावना के कारण विदेशी माल का बहिष्कार किया जाने लगा। विशेषकर भारत में इस भावना के कारण ब्रिटिश वस्त्रों की मांगें बहुत गिर गईं। इसके अतिरिक्त अन्य देशों ने आयात पर भारी कर लगा दिये, ताकि उनके उद्योग को संरक्षण प्राप्त हो सके।

(४) उत्पादन लागत में वृद्धि—ब्रिटेन में उद्योग का संगठन दोषपूर्ण हो गया। कच्चा माल मँगाने में यातायात व्यय अधिक होता था। ब्रिटिश मजदूरों का वेतन-स्तर ऊंचा था। अतः उत्पादन की लागत बहुत अधिक हो जाती थी।

इन सब कारणों से सन् १९३०-३१ तक उद्योग की दशा बहुत गिर गई। उद्योग के पुनर्गठन के लिये आधुनिकतम मशीनें स्थापित की गईं। वैज्ञानिक प्रबन्ध और विवेकीकरण के सिद्धान्तों को लागू किया गया। छोटी छोटी मिलों को मिलाकर बड़ी बड़ी मिलों की स्थापना की गई। सरकार तथा बैंक आफ इंगलैंड ने सस्ती ब्याज की दर पर मिलों को

ऋण देना आरम्भ कर दिया। ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों से अन्य देशों की तुलना में आयात कर में रियायतें प्राप्त कर लीं। विशिष्टीकरण प्राप्त करने के उद्देश्य से बहुत बारीक और उच्चकोटि के वस्त्रों का ही उत्पादन होने लगा।

इन सब प्रयत्नों के कारण कुछ सुधार तो अवश्य हुआ, किन्तु फिर भी ब्रिटेन सूती वस्त्र उद्योग अपनी पूर्व स्थिति को नहीं प्राप्त कर सका। द्वितीय महायुद्ध के बाद से लंकाशायर की सूती मिलों को फिर संकटकालीन स्थिति से गुजरना पड़ा। भारत में इस उद्योग का इतना अधिक विकास हो गया है कि उसने एशिया के ही नहीं, बल्कि अफ्रीका और पश्चिमी योरप के सब देशों में निर्यात आरम्भ कर दिया है।

परन्तु फिर भी इंगलैंड का वस्त्र उद्योग वहां के विदेशी व्यापार विशिष्ट भाग आज भी बना हुआ है। इसका कारण यह है कि समय के अनुसार उसका रूप बदलता जा रहा है और सूती तथा सिल्क के कपड़े बनाने के अतिरिक्त रेयन (Rayon) का भी उत्पादन करने लगा है।

(२) कोयला उद्योग (Coal Industry)

किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिये शक्ति के साधनों का होना अत्यन्त आवश्यक है। आरम्भ से ही ब्रिटेन के औद्योगिक विकास में कोयले का बड़ा महत्वपूर्ण भाग रहा है। बड़े बड़े लोहे के कारखानों तथा यातायात के साधनों का विकास यहां कोयले के बल पर ही सम्भव हो सका है। अतः यह कथन कि इंगलैंड का आर्थिक इतिहास वास्तव में कोयले की खानों के विकास की ही कहानी है—सत्य है। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति की आधारशिला कोयला ही है।

सन् १७५० से पूर्व कोयले का प्रयोग केवल ईंधन के लिये किया जाता था। वार्षिक उत्पादन ५० लाख टन से भी कम था। सन् १७६० के बाद से भाप के इंजिन का आविष्कार हो जाने से कोयले की मांग बढ़ी। खानों के अन्दर से पानी निकालने के लिये भाप के इंजिन का प्रयोग किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त अन्य कठिनाइयों को भी हल किया गया, जैसे प्रकाश व वायु तथा उचित तापमान की व्यवस्था, अन्दर से गहरी खानों का कोयला बाहर निकालने के लिये कुशल साधनों की व्यवस्था और कृत्रिम साधनों द्वारा स्वास्थ्यप्रद वातावरण उत्पन्न करना आदि।

१८वीं सदी के अन्त में कोयले से कोक बनाने की विधि ज्ञात कर ली गई। इससे कोक के प्रयोग द्वारा इस्पात बनाना सरल हो गया। नहरों तथा रेलों के निर्माण ने कोयले के यातायात के प्रश्न को हल कर दिया। प्रथम महायुद्ध में श्रमिकों की कमी के कारण तथा निर्यात की कठिनाई के कारण उद्योग के समक्ष कुछ कठिनाई आई। कोयले के उत्पादन व मूल्य के सम्बन्ध में सरकार ने हस्तक्षेप किया। परन्तु सन् १९२५ में नियन्त्रण समाप्त कर दिया गया। मन्दी के कारण मूल्य गिरने लगे तथा अन्य देशों में भी कोयले

की खानों का विकास होने लगा। अत इंगलैंड के कोयले की माग अपेक्षाकृत कम हो गई और उत्पादन कम हो गया।

सन १६२५ में कोयला कमीशन नियुक्त हुआ। जिसने अनेक सुझाव दिये जैसे नई मशीनों का प्रयोग, कोयले का श्रेणी विभाजन, विवेकीकरण तथा उत्पादन व्यय कम करने के लिये बड़ी बडी इकाइयों का निर्माण आदि। सन १६३० में उत्पादन और विक्रय के सम्बन्ध में Coal Mines Act पास किया गया। सन १६३७ में एक और एक्ट पास हुआ, जिसका उद्देश्य अनिवार्य एकीकरण करना तथा उत्पादन एवं विक्रय के सम्बन्ध में सुधार करना था।

द्वितीय महायुद्ध में फिर उद्योग को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। श्रमिकों की कमी हो जाने तथा निर्यात के बन्द हो जाने से उत्पादन भी कम हो गया। जुलाई १६४६ में कोयले उद्योग के राष्ट्रीयकरण के लिये एक एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार कोयले की खानें सरकार के स्वामित्व एवं प्रबन्ध में आ गई। १ जनवरी १६४७ को राष्ट्रीय कोयला बोर्ड की स्थापना की गई, जिसके अधिकार में १५०० कोयले की खानें एवं अन्य सम्बन्धित उद्योग आ गये। बोर्ड का यह कर्तव्य था कि वह उद्योग का प्रबन्ध कुशलता से करे और राष्ट्रीय हित में कोयले का उत्पादन करके उचित मूल्य पर उसे जनता को प्रदान करे। १६५० में इस बोर्ड ने कोयले के उद्योग के विकास के लिये एक नई योजना बनाई, जिसका उद्देश्य कोयले का उत्पादन बढाना तथा निर्यात को प्रोत्साहन देना था।

परन्तु फिर भी उस उद्योग की वर्तमान दशा यह है कि वह देश की केवल आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाता है और बहुत ही थोड़ी मात्रा में कोयला निर्यात कर सकता है। इस प्रकार ब्रिटेन का कोयला उद्योग जो आरम्भ में काले हीरे के समान था, धीरे धीरे अवनत दशा की ओर अग्रसर हो रहा है।

(३) लोहा-इस्पात उद्योग

आधुनिक युग में इस्पात का उत्पादन किसी भी देश के औद्योगिक विकास का मापदण्ड है। लोहा-इस्पात उद्योग इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रांति के बाद से ही प्रमुख उद्योग रहा है। १६वी सदी के अन्त तक इंगलैण्ड इस उद्योग में विश्व का प्रमुख राष्ट्र बन गया।

१८वीं सदी के मध्य तक इंगलैण्ड में लोहा लकडी के कोयले की सहायता से बनाया जाता था। कच्चा लोहा स्पेन और स्वीडन से आयात किया जाता था। बाद में पत्थर के कोयले का प्रयोग करके लोहा बनाया जाने लगा। यार्कशायर, वेल्स और बर्मिंघम इसके केन्द्र बन गए। कोयले को कोक के रूप में परिवर्तन करने में सफलता मिल जाने से लोहे के बडे बडे कारखाने स्थापित किए जाने लगे।

सन १८२१ के बाद रेलो के विकास के कारण भी इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला

और ब्रिटेन से इस्पात का निर्यात भी होने लगा। सन् १८७५ तक इंगलैण्ड विश्व का सबसे प्रमुख देश था। १८७५ के बाद अन्य देशों में भी इस्पात उद्योग का विकास होने लगा। धीरे धीरे अमेरिका और जर्मनी में इस्पात उत्पादन की मात्रा बढ़ने लगी और वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में ये दोनों ही देश इंगलैण्ड से आगे बढ़ गये। सन् १९१३ में अमेरिका इंगलैण्ड से चार गुना अधिक इस्पात तैयार करता था।

सन् १९२० के बाद विश्वव्यापी मन्दी के कारण उद्योग को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जैसे मूल्यों में कमी, अन्य देशों में इस्पात का उत्पादन, विदेशी प्रतियोगिता, निर्यात में कमी तथा ऊंचे उत्पादन व्यय। इन कठिनाइयों के कारण इस्पात उद्योग मन्दी के काल में अधिक विकास नहीं कर सका।

सन् १९३१-३२ के बाद इस उद्योग का पुनर्गठन किया गया। बाहर से आने वाला इस्पात तथा अन्य सम्बन्धित वस्तुओं पर संरक्षण कर लगा दिये गए। उत्पादन व्यय में कमी करने के लिए छोटी छोटी इकाइयों का एकीकरण व विवेकीकरण किया जाने लगा। इस्पात के मूल्य स्थिर कर दिये गये सन् १९३० में ब्रिटिश इस्पात निर्यात संघ स्थापित किया गया। अनुसंधान करने व आर्थिक सहायता दिये जाने की व्यवस्था की गई।

द्वितीय महायुद्ध में इंगलैण्ड इस्पात निर्माण की दिशा में अधिक प्रगति नहीं कर सका। सन् १९४७ में कोयले के संकट के कारण उद्योग को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। माग की पूर्ति के लिए ब्रिटेन को लगभग ५० लाख टन इस्पात अन्य देशों से आयात करनी पड़ी। ब्रिटिश लौह और इस्पात बोर्ड की स्थापना युद्ध के बाद की गई। नई उच्च कोटि की स्टील बनाई जाने लगी।

आज विश्व में इस्पात उत्पादन की दृष्टि से ब्रिटेन का तृतीय स्थान है। वार्षिक उत्पादन १८० लाख टन है। प्रथम स्थान अमेरिका का है, जहां ९५० लाख टन स्टील बनता है, द्वितीय रूस का है जहां का उत्पादन ३७० लाख टन है। पश्चिमी जर्मनी ने भी इस उद्योग में काफी प्रगति कर ली है और उसकी स्थिति लगभग ब्रिटेन के बराबर ही है।

ब्रिटेन को इस उद्योग को प्रमुख रूप से दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है—प्रथम तो कच्चे माल की अत्यन्त कमी है। ब्रिटेन के बढ़ते हुए इस्पात उद्योग के लिए पिग आइरन का उत्पादन बहुत कम है। दूसरे कारखानों में काम करने के लिए श्रमिकों की कमी की समस्या है।

देश की आर्थिक प्रगति के लिए ब्रिटेन को इस उद्योग को उन्नत बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसमें अधिक पूंजी लगी हुई है तथा यह आधारभूत उद्योग है।

प्रश्न

1 What led to the development of the Cotton Textile Industry in England, specially at Lankashire when England was neither producer nor consumer of cotton ?

Explain & discuss the causes of its downfall in post-war period

2 "The economic history of England can well be interpreted as the story of her Coal Mining" Discuss

3 Discuss the growth of British Iron & steel industry and write a few tines about its present position

4 Great Britain lost he rleadership in one staple industry after another as modern industrialism spread over other countries"

Do you agree with this statement ? Discuss

अध्याय ५

यातायात और उसका विकास

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उद्योग और व्यापार का विकास हुआ। इनके विकास के साथ साथ ही यातायात के साधनों में भी प्रगति हुई। १७वीं सदी तक इंगलैंड के यातायात के साधनों की बड़ी दुर्दशा थी। मिचैल के अनुसार "रोमन सड़कें, जो मध्य युग में अच्छी दशा में थीं समाप्तप्राय और जीर्णावस्था में थीं। नई सड़कों का निर्माण तो दूर रहा, पुरानी सड़कों की मरम्मत भी ठीक ढंग से नहीं की गई।" यातायात के नाम पर केवल घोड़े और खच्चरों का ही प्रयोग होता था। उद्योग-धन्धे अविकसित थे, जनसंख्या कम थी तथा पूंजी का अभाव था। आल एण्ड शार्प के अनुसार "उस समय सड़कें केवल गन्दी ही नहीं थीं, अपितु वहां चोर व डाकुओं का भी बाहुल्य था, जिसके कारण यात्रा सुरक्षित न थी।"

यातायात के साधनों में हम निम्नलिखित का अध्ययन करेंगे।

१ सड़क, २ नहर, ३ रेल, ४ सामुद्रिक जहाज और ५ वायुयान।

१. सड़क

बहुत समय तक इंगलैंड में सड़कों के निर्माण व देखभाल की ओर कोई ध्यान न दिया गया। १८वीं शताब्दी में सड़कों की स्थिति सुधारने के प्रयत्न किये गये। परन्तु हस्तक्षेप नहीं करने की नीति के कारण सरकार का कार्यक्षेत्र सीमित था। सड़कों के निर्माण के लिये निजी उद्योग का ही सहारा लिया गया। सड़कों पर नियन्त्रण का अधिकार उन धनी व्यक्तियों को दे दिया गया, जो सड़क बनाने में पूंजी लगाते थे। ऐसी निजी सड़कों की व्यवस्था व नियन्त्रण के लिये सड़कों पर फाटक थे, जिससे प्रत्येक यात्री, पशु व सवारी से कर वसूल किया जा सके। उसी धन में से कुछ सड़कों की मरम्मत व सुधार पर व्यय कर दिया जाता था। इन धनी व्यक्तियों ने समूह के रूप में ट्रस्ट बना लिये थे, जिनको टर्न पाइक ट्रस्ट (Turn Pike Trust) कहते थे। C. B. Fay के अनुसार "इस ट्रस्ट का कार्य *एक निर्धारित दूरी तक सड़क का निर्माण करना* था और यह माल ढोने वाले व्यक्तियों से कर वसूल करता था।"

ऐसे ट्रस्टों को मान्यता देने के लिए और सड़क निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिए सन् १६६३ में टर्न पाइक एक्ट पास किया गया। थोड़े ही काल में ऐसे अधिनियम अधिक संख्या में पास हो गए, जिनके परिणामस्वरूप सड़क निर्माण करने वाली ऐसी संस्थाओं की संख्या भी बढ़ गई और सड़क निर्माण का कार्य तीव्र गति से होने लगा। विभिन्न अधिनियमों में एकरूपता लाने के लिए सन् १७७३ में एक सामान्य टर्न पाइक एक्ट पास किया गया। सन् १८३१ में दूसरा एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार सड़कों

का उपयोग करने वालों पर अधिक कर लगाया जा सकता था। इससे ट्रस्टों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।

इतना होने पर भी सड़कों का विशेष विकास नहीं हो पाया, क्योंकि सड़क निर्माण में वैज्ञानिक तरीकों को काम में नहीं लाया जाता था १६वीं शताब्दी में इस कार्य में बड़े बड़े इंजिनियर रुचि लेने लगे परिणामस्वरूप चेनी (Cheney) के शब्दों में "टेलफोर्ड, मैकएडम और अन्य इंजिनियर तथा निजी टर्नपाइक कम्पनियों व स्थानीय सत्ताओं के प्रयत्नों से इंगलैण्ड में अच्छी सड़कों का निर्माण हो सका।"

मैकएडम ने कंक्रीट का प्रयोग कर पक्की सड़कों के निर्माण का द्वार खोल दिया, जिससे यात्रा में एक नई क्रांति आरम्भ हुई। अब सब ऋतुओं में यात्रा करना सरल हो गया। इस समय औद्योगिक विकास और व्यापार की वृद्धि के कारण सड़क निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता हुई, जिसके विकास के लिए अधिक योग्य और कुशल इंजिनियरों की आवश्यकता थी, साथ ही अधिक पूंजी भी चाहिए थी। अतः ट्रस्ट धीरे धीरे लुप्त होने लगे, क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति गिरने लगी थी। सन् १८८८ में सरकार ने सड़कों का प्रबन्ध राष्ट्रीय परिषद् तथा देहाती व शहरी हाईवे बोर्ड को सौंप दिया। इस प्रकार सड़क निर्माण का कार्य सरकारी नियन्त्रण में चला गया।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मोटरों के आविष्कार से सड़कों की महत्ता बढ़ गई। सन् १६०७ में मोटर व पेट्रोल पर कर लगाया गया, जिसका कुछ अंश सड़क निर्माण व मरम्मत में व्यय किया जाने लगा। बढ़ती हुई औद्योगिक आवश्यकताओं को देखते हुए सड़कों को अधिक मजबूत, कम धूल उड़ाने वाली तथा कम आवाज करने वाली बनाया गया।

प्रथम महायुद्ध में सड़कों की दशा बिगड़ने लगी। सन् १६१८ में एक विशेष कोष की स्थापना की गई, जिसका उपयोग केवल सड़क विकास के लिए ही किया जा सकता था। सड़कों को ५ वर्गों में विभाजित किया गया।

(१) ट्रंक रोड, जिसका समस्त आर्थिक उत्तरदायित्व सड़क कोष पर था।
(२) 'अ' वर्ग रोड, जिसका ७५% व्यय सड़क कोष पर था।
(३) 'ब' वर्ग रोड, जिसका ६०% व्यय सड़क कोष पर था।
(४) 'स' वर्ग रोड जिसका ५०% व्यय सड़क कोष पर था।
(५) अवर्गित रोड।
शेष व्यय स्थानीय सत्ताओं द्वारा दिया जाता था।

इस ही समय सड़क–रेल यातायात में तीव्र प्रतिस्पर्धा होने लगी, अतः १६३० में सरकार ने मोटर यातायात पर कुछ नियन्त्रण लगाये। द्वितीय महायुद्ध के समय सड़कों के अधिक प्रयोग के कारण उनकी अवस्था बिगड़ती गई। इनकी स्थिति को सुधारने के लिए

श्रेय निजी कम्पनियों का ही है। परन्तु सरकार ने रेलों के विकास पर नियन्त्रण करने के अनेक प्रयत्न किये। व्यापार मण्डल की आज्ञा बिना नई रेलवे कम्पनियां नहीं बन सकती थीं तथा १० प्रतिशत से अधिक लाभ होने पर किराया नहीं बढ़ाया जा सकता था।

(२) सन् १८४५ से १८७३ तक—इस काल में रेलों में काफी सुधार हुआ। छोटी छोटी लाइनों को ट्रंक लाइनों से मिलाया गया। जन-साधारण का मत भी रेलों के अनुकूल होने लगा। रेल कम्पनी पर नियन्त्रण रखने के लिए सरकार ने सन् १८४४ में नियन्त्रण मण्डल की स्थापना की। १८६५ में शाही कमीशन की नियुक्ति हुई। परन्तु कोई विशेष सफलता नहीं मिली और रेल्वे कम्पनियों का एकाधिकार हो गया।

(३) सन् १८७४ से १८९३ :—इस काल में रेलों का व्यवस्थित नियमन तथा राज्य द्वारा नियन्त्रण हुआ। सन् १८८८ में एक अधिनियम के द्वारा रेल्वे तथा नहर आयोग के अधिकारों को बढ़ा दिया गया। सन् १८९३ में रेल किराये की निश्चित दर लागू की गई। इस बात पर भी जोर दिया गया कि तय की हुई मजदूरी नियमित रूप से दी जाय। रेलों के समक्ष दो समस्याएं थीं—एक तो दरों की तथा दूसरी लागत व्यय में वृद्धि की। रेल दरों को बढ़ाने के हेतु रेलों का एकीकरण आरम्भ हुआ।

(४) सन् १८९४ से १९१४:—इस काल में कम्पनियों में पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त सी हो रही थी। इसी समय रेल्वे कर्मचारी रेलों के राष्ट्रीयकरण के लिए आन्दोलन करने लगे। श्रमिकों के झगड़ों के फलस्वरूप रेल्वे मजदूरों ने संघों की स्थापना आरम्भ कर दी। व्यापार मण्डल ने हस्तक्षेप कर कई सुलह मण्डलों (Conciliation Boards) की स्थापना कराई, जिसमें रेलों तथा मजदूरों के प्रतिनिधि आपस में मिलकर झगड़े निपटाने लगे। सन् १९१३ में राष्ट्रीय रेल्वे कर्मचारी संघ के रूप में मजदूर एकत्रित हो गये। कुछ प्रस्ताव नई नहरों के निर्माण के भी आये जो रेल्वे कम्पनियों द्वारा अस्वीकृत कर दिये गये।

(५) सन् १९१४ से १९३० :—प्रथम महायुद्ध में सामरिक दृष्टि से रेलों को सरकारी नियन्त्रण में ले लिया गया। यह नियन्त्रण सन् १९२१ तक रहा। परन्तु इस राष्ट्रीयकरण से रेलों की स्थिति में कई सुधार हो गए। सन् १९२१ में रेल्वे एक्ट पास किया गया, जिसके अनुसार रेलों का एकीकरण अनिवार्य कर दिया गया तथा रेल दरें निश्चित करने के लिए 'रेल्वे रेट ट्रिब्यूनल' की स्थापना की गई। रेल-सड़क प्रतिस्पर्धा बढ़ जाने के कारण सन् १९३० में सड़क यातायात एक्ट पास किया गया और सन् १९३२ में एक रेल्वे सड़क सम्मेलन बुलाया गया। रेलों की सहायता के हेतु सड़क यातायात पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये।

(६) १९३९ से अब तक :—द्वितीय महायुद्ध में पुनः रेलें राज्य के नियन्त्रण में आ गईं। १ जनवरी, १९४८ को ब्रिटेन के समस्त यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

सन् १९५३ में यातायात एक्ट के अन्तर्गत एक यातायात आयोग की नियुक्ति की गई, जिसने रेलों के पुनर्गठन का सुझाव दिया। सन् १९५४ से रेलें विद्युत् से भी चलने लगीं। सन् १९५५ में यातायात आयोग द्वारा एक १५ वर्षीय योजना बनाई गई। यात्रियों की सुविधा के लिए सम्मिलित प्रयत्न किये जा रहे हैं।

४. सामुद्रिक यातायात

किसी भी देश के आर्थिक व राजनैतिक महत्व के लिए सामुद्रिक शक्ति बहुत आवश्यक है। इस सम्बन्ध में इंगलैण्ड की स्थिति अति उपयुक्त है। इसका विशाल समुद्रतट कटा-फटा है तथा कोई भी स्थान समुद्र से अधिक दूर नहीं है। इसी कारण इस देश ने सामुद्रिक यातायात में आश्चर्यजनक उन्नति की और इसे जहाजों का राष्ट्र कहते हैं।

सामुद्रिक यातायात के विकास का इतिहास निम्न कालों में बाटा जा सकता है :—

(१) १७६६ से १८५४ तक :—१८वीं शताब्दी से पूर्व जहाजरानी के विकास के कई प्रयत्न किये गये। सन् १३८१ में नौवहन अधिनियम पास किया गया, जिसके द्वारा विदेशी जहाजों का बहिष्कार कर दिया गया। सन् १४८५ के एक एक्ट के अनुसार इंगलैण्ड को माल अंग्रेजी जहाजों में ही लाया जाय। इसके बाद जहाजों के कप्तान का अंग्रेज होना भी अनिवार्य कर दिया गया। सन् १५५६ में यद्यपि यह कानून समाप्त कर दिया गया, परन्तु १६६० इसे फिर लागू कर दिया गया। विदेशी जहाजों को इंगलैण्ड के उपनिवेशों के साथ व्यापार करने के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया। इन अधिनियमों के द्वारा इंगलैण्ड विश्व में सामुद्रिक शक्ति का नेता बन गया। इंगलैण्ड की इस नीति के कारण अन्य राष्ट्र क्षुब्ध हो गये और अन्त में सन् १८४६ में इन नियमों को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश जहाजी यातायात को पूर्ण स्वतन्त्रता देदी गई।

(२) सन् १८५४ से १८८० तक :—इस काल में वैज्ञानिक आविष्कारों से ब्रिटिश जहाजरानी में अनेक परिवर्तन हुए। भाप के इंजन तथा लोहे के जहाज का विकास हुआ। जहाज निर्माण की तकनीक में महान परिवर्तन हुए। इसी समय स्वेज नहर के निर्माण ने इस विकास को प्रोत्साहन दिया। जहाजों की गति बढाई गई। माल के उतारने-चढाने में मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा, लागत व्यय में कमी हुई तथा किराये भाड़े की दर भी कम हुई। लोहे के स्थान पर इस्पात का प्रयोग होने लगा। इन सबका यह फल हुआ कि प्रथम महायुद्ध के समय तक ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति विश्व के समस्त राष्ट्रों से अधिक हो गई।

(३) सन् १८८० से १९१४ तक :—इस काल में विदेशों की प्रतिस्पर्धा एवं एकीकरण प्रमुख तत्व रहे। अमेरिका, जर्मनी आदि देशों ने ब्रिटेन से जहाजी शक्ति में टक्कर लेना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार परस्पर जहाजी सन्धियों का महत्व बढ गया तथा कई समझौते हुए।

–

(४) युद्धकाल १९१४–१९१८ :—प्रथम युद्ध के आरम्भ हुते ही सरकार ने वह यातायात को अपने नियन्त्रण में ले लिया। युद्ध में जहाजों की क्षति के कारण जहाज निर्माण को प्रोत्साहन मिला। अमेरिकन तथा जापानी जहाजी शक्ति के विकसित होने से धीरे धीरे इंगलैण्ड का महत्व इस क्षेत्र में कम होने लगा।

(५) १९१८–३६ तक—कोयले के व्यापार में कमी आने के फलस्वरूप जहाज निर्माण तथा जहाज यातायात का विकास रुक गया। व्यापार की कमी के कारण ब्रिटिश जहाजी यातायात को कभी आघात लगा। १९२९–३० की विश्वमन्दी के कारण ■ यातायात का विघटन आरम्भ हो गया।

(६) १९३६ से अब तक —द्वितीय युद्ध के समय अंग्रेजी जहाजों की भारी क्षति हुई। इसकी पूर्ति अब तक नहीं हो सकी है। सन् १९४५ में सर्वेक्षण बोर्ड ने एक पचवर्षीय योजना तैयार की, जिसके अनुसार ५५ मि० पौंड जल यातायात पर व्यय किये जायेंगे।

५. वायु यातायात

ब्रिटेन में वायु यातायात का वास्तविक आरम्भ २५ अगस्त १९१९ को हुआ, जबकि एक कम्पनी द्वारा एक सर्विस लन्दन और पेरिस के बीच स्थापित की। सन् १९१९ में ब्रिटिश उड़ाकों ने अटलांटिक समुद्र पार किया। १९२३ में वायु यातायात की प्रगति के लिए छोटी कम्पनियों को इकट्ठा बनाने का सुझाव दिया गया। अप्रैल १९२४ में Imperial Airways Ltd. के रूप में कम्पनियों का पुनर्गठन हुआ और सरकार ने इसको आर्थिक सहायता प्रदान की।

इस कम्पनी ने ही अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात सर्विस और Royal Air Force का कार्य आरम्भ किया। सन् १९२९ में इंगलैण्ड और भारत के बीच वायु यातायात आरम्भ हो गया। दिसम्बर १९३४ में पहली Mail Service लन्दन और आस्ट्रेलिया के बीच स्थापित हुई और १९३५ में यात्री सर्विस।

सन् १९३७ में इस कम्पनी ने अटलांटिक पार किया। सन् १९३९ के एक अधिनियम के द्वारा British overseas Airways Corporation (B. O. A. C.) की स्थापना हुई, जिसने सन् १९४० Imperial Airways Ltd. तथा British Airways Ltd. का कार्य सभाल लिया।

द्वितीय महायुद्ध के समय B. O. A. C. ने आवश्यक सेवाएं आरम्भ कीं। युद्ध के पश्चात् सेवाओं का इतना विस्तार हो गया कि वायुयानों की कमी प्रतीत होने लगी। इस कमी की पूर्ति मिलिट्री एयरक्राफ्ट तथा बाहर से वायुयान खरीद कर की गई।

वायु यातायात की प्रगति का भार एक मन्त्री पर है, जिसकी सहायता के लिये ३ मुख्य संस्थाएं हैं —(१) वायु यातायात परामर्शदात्री परिषद् (२) वायु रजिस्ट्रेशन बोर्ड तथा (३) वायु सुरक्षा बोर्ड।

वायु यातायात संस्थाएँ अपने कार्यों को व्यापारिक संस्थाओं के समान करती हैं और मन्त्री इन संस्थाओं पर अधिक नियन्त्रण रखता है। प्रत्येक संस्था अपने श्रमिकों के स्वास्थ्य और कल्याण का ध्यान रखती है। सन् १९५२ में एक नई नीति के कारण वायु यातायात को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस नीति का उद्देश्य वायुयानों की गति में वृद्धि करना, लागत में कमी करना तथा यात्रियों तथा व्यापारियों को अधिक से अधिक सुविधाएं देना है।

प्रश्न

1. Trace history of Rly development in England.
2. Describe the development of shipping in England during 1822–1846. What were the effects of the abolition of Navigation Acts (1849–1854)
3. Give an idea of revolution in British Transport system and show how it helped the Industrial Revolution?

श्रमिक संघ

औद्योगिक क्रांति से पूर्व जब कि उद्योगों का संगठन कुटीर प्रणाली पर था। मालिक और श्रमिकों के स्वार्थों में अधिक अन्तर नहीं था। वे एक दूसरे के पूरक थे और मिलजुल कर रहते थे। अतः श्रमिकों के पृथक संघ बनाने का प्रश्न ही उस समय नहीं उत्पन्न होता था।

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् परिस्थितियां बदल गई। बड़े बड़े कारखाने स्थापित होने लगे, जिनमें मशीनों के कारण बहुत अधिक पूंजी की आवश्यकता होती थी। बड़े बड़े पूंजीपति कारखानों के मालिक होने लगे और श्रमिकों का शोषण करने लगे। अधिक घण्टों तक काम लेना और कम वेतन देना साधारण सी बात हो गई। निर्धन, दुखित और निराश्रित श्रमिक वर्ग ने अपनी दयनीय स्थिति को सुधारने के लिए संघों द्वारा ही अपने को सुसंगठित करने का प्रयास किया। अतः यदि हम यह कहें कि श्रमिक संघों की आवश्यकता एवं प्रगति औद्योगिक क्रांति का ही परिणाम थी, तो यह कथन सत्य होगा।

आरम्भ में जब श्रमिक अपने स्वार्थों की सुरक्षा के लिए आपस में मिलने लगे तो इसे अवैधानिक समझा गया। सन् १७९९ और १८०० के Combinatoin Lows के अनुसार श्रमिक संघ गैरकानूनी घोषित कर दिए गए। इन नियमों के अनुसार यदि श्रमिक अपने कार्य के घण्टे कम कराने अथवा वेतन बढ़ाने के लिए आपस में मिलकर संघ बनाते थे तो उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। उस समय लोगों को भय था कि कहीं फ्रांस की राज्यक्रांति की पुनरावृत्ति इंगलैण्ड में भी न हो जाय। अतः श्रमिकों के संघों को वैधानिक मान्यता प्राप्त नहीं थी। हां, Friendly Societies अवश्य थीं। इन मित्र संघों में सदस्य चन्दा देते थे और उससे समय पड़ने पर बीमारी और बेकारी के अवसर पर आर्थिक सहायता लेते थे। इसके अतिरिक्त कुछ संघ श्रमिकों के ऐसे भी थे, जो गुप्त रूप से अपना कार्य करते थे।

सन् १८२४ में एक अधिनियम पास किया गया, जिसके अनुसार इंगलैण्ड के इतिहास में प्रथम बार श्रमिक संघों को वैधानिक मान्यता प्रदान कर दी गई। अब इस बात की उन्हें छूट थी कि वेतन तथा काम के घण्टों के विषय में बातचीत करने के लिए वे अपना संघ बना सकते थे। इस छूट के कारण कई हड़तालें हुई। अतः सन् १८२५ में इस कानून में संशोधन किया गया। इसका तात्पर्य यह था कि यदि श्रमिक वेतन व काम के घण्टों के सम्बन्ध में संघ बनाकर हड़ताल करेंगे तो उनका सामान्य कानून के अन्तर्गत चालान किया जा सकेगा। इस प्रकार जो स्वतंत्रता श्रमिकों को मिली था, वह समाप्त हो गई। परन्तु फिर

भी १८२४ और १८४३ के मध्य कई संघों की स्थापना हुई। सन् १८३४ में Grand National Consolidated Trade Union की स्थापना हुई परन्तु कुछ काल बाद यह असफल रही।

सन् १८४३ के बाद श्रमिक संघों के इतिहास में एक नए ही युग का आरम्भ हुआ। अब हड़तालों पर लोगों का विश्वास न रहा और इनके स्थान पर आपसी बातचीत तथा पंच फैसले के द्वारा झगड़ों का निपटारा किया जाने लगा। अतः संघ के संगठन, तरीकों और उद्देश्य आदि में कई परिवर्तन आ गए।

सन १८६७ में एक शाही आयोग की नियुक्ति की गई, जिसके सुझावों पर सन् १८७१में ट्रेड यूनियन एक्ट पास किया गया, जिसमें निम्न बातों का समावेश किया गया —

(१) संघों का रजिस्ट्रेशन कराया जा सकता था।

(२) संघों के अधिकार में भूमि, भवन और चल-अचल सम्पत्ति रह सकती थी और वे मुकदमें दूसरे पक्षों पर चला सकते थे तथा अन्य पक्ष उन पर कानूनी कार्यवाही कर सकता था।

(३) उनकी सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान की गई।

यद्यपि १८७१ के कानून क द्वारा श्रमिकों को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली, परन्तु उसी वर्ष फौजदारी कानून में सुधार कर धरना देने पर भारी दण्ड देने की व्यवस्था की गई। इस दोष को सन् १८७५ में दूर कर दिया गया, जबकि शान्तिपूर्ण धरना देने पर कोई दण्ड की व्यवस्था न रही। इस प्रकार सन् १८८० तक इंगलैंड का श्रमिक संघ आंदोलन काफी प्रगति कर चुका था।

संघों को वैधानिक मान्यता प्रदान कर दी गई थी। वे वेतन बढ़ाने एवं काम के घण्टे घटाने के लिए अपना संगठन बना सकते थे और शान्तिपूर्ण ढंग से हड़ताल भी कर सकते थे तथा धरना दे सकते थे। इस बीच में कृषि-श्रमिकों तथा अन्य व्यवसायों के श्रमिकों के संघ भी बन चुके थे। सन् १८९३ में स्वतंत्र Labour Party की स्थापना हो गई थी और इस पार्टी का समर्थन करके श्रमिक संघ राजनैतिक क्षेत्र में भी अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करने लगा।

सन १९०१ में T V Rly Co के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। न्यायालय ने इस हड़ताल को अवैधानिक घोषित कर दिया और रेल्वे श्रमिक संघ को २३००० पौंड क्षति-पूर्ति के रूप में देने पड़े। १९०६ में औद्योगिक संघर्ष एक्ट के अन्तर्गत हड़ताल व शान्तिपूर्ण धरना देने के विरुद्ध मुकदमा लेने का निषेध न्यायालयों के लिए हो गया, जिससे श्रम संघों की शक्ति काफी बढ़ गई।

सन् १९०८ में न्यायालय ने W Osborne के इस पक्ष को मान लिया कि सदस्यों से राजनैतिक कार्यों के लिए चन्दा लेना श्रमिक संघों के क्षेत्र के बाहर है और इसका उन्हें कोई अधिकार नहीं होगा। इन निर्णयों ने संघों को सत्ता को खतरे में डाल दिया। Trade Union Congress और लेबर पार्टी का भविष्य अन्धकारमय हो गया।

सन् १९१३ में उपर्युक्त दोष को दूर करने के लिए ट्रेड यूनियन एक्ट पास किया गया। इस एक्ट के द्वारा श्रमिक संघ राजनैतिक कार्यों के लिए बहुमत से चन्दा जमा कर सकते थे, परन्तु शर्त यह थी कि ये राजनैतिक फण्ड अन्य फण्डों से पृथक रहना चाहिए।

प्रथम महायुद्ध के बाद श्रम संघ आन्दोलन अधिक प्रगति करने लगा। १९११ में National Union of Rly. men १९३१ में Trade Union Congress की जनरल कौंसिल बनाई गई। राजनैतिक प्रभाव से सन् १९२४, १९३१ और १९४५ में Labour Govt बनी।

इस एक शताब्दी के लम्बे संघर्ष के कारण ही अब श्रम संगठन इस योग्य बन गये हैं कि वे अपने स्वार्थों की सुरक्षा कर सकें। वे राष्ट्रीय हित को समझने लगे हैं और शान्तिपूर्ण तरीकों में ही विश्वास करते हैं। हड़ताल भी हुई, परन्तु बहुत कम और प्रायः समझौतों द्वारा ही झगड़ों को तय किया गया है।

इंगलैंड में श्रमिक संघों ने जो सफलताएं प्राप्त की हैं वे हैं वेतन दर में वृद्धि कार्य के घण्टों एवं दशाओं में परिवर्तन, अपने सम्मान व संगठन में वृद्धि और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में राज्य से कई लाभ प्राप्त कर लेना। ये सफलताएं कम नहीं हैं। आज इंगलैंड का श्रमिक, जीवनस्तर और सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से किसी भी अन्य राष्ट्र के श्रमिक से उत्तम स्थिति में है। विशेष बात यह है कि वहां के श्रमिकों ने यह सफलता किसी विप्लव के द्वारा नहीं, बल्कि शान्तिपूर्ण संघर्ष के कारण ही प्राप्त की है।

प्रश्न

1 Trace the growth of trade union movement. How has it in finluenced the condition of labour

सामाजिक सुरक्षा तथा बीमा

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में प्रतिक्षण किसी न किसी आकस्मिक दुर्घटना या संकट का भय बना रहता है, जैसे मृत्यु, बीमारी बेकारी, वृद्धावस्था आदि। एक अच्छे समाज में इन संकटों से लोगों की सुरक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है, ताकि व्यक्ति इन दुर्घटनाओं के भय से मुक्त होकर समाज में अपने कर्तव्य को पूरा कर सके।

प्राचीन काल में समाज का सगठन भिन्न प्रकार था। परिवार बड़े आकार के और सम्मिलित होते थे। जातीय और वंश-परम्पराओं के आधार पर बीमारी, बेकारी और वृद्धावस्था के समय व्यक्ति की सहायता और सुरक्षा स्वतः ही हो जाती थी।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद नगरों में श्रमिकों की संख्या बढ़ गई। सम्मिलित परिवारों के स्थान पर छोटे आकार के परिवार बन गये और लोगों में व्यक्तिवाद की भावना का उदय हुई। अब संकट के समय श्रमिकों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सारे समाज या राष्ट्र पर आ गया।

इन दुर्घटनाओं और संकटों से सुरक्षा करने के लिए समाज में जिन योजनाओं की व्यवस्था की गई, वे सब सामाजिक सुरक्षा या बीमा की योजनाएं कहलाती हैं। आजकल एक प्रजातन्त्र और कल्याणकारी राज्य में सामाजिक सुरक्षा या बीमे की व्यवस्था अनिवार्य समझी जाती है। श्रमिक वर्ग प्रत्येक राष्ट्र में समाज का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक नागरिक के लिए जन्म से मृत्यु तक की सुरक्षा का उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर होना चाहिये, अर्थात् बीमारी, बेकारी, जच्चा, वृद्धावस्था और दुर्घटनाओं की सुरक्षा की व्यवस्था राज्य को करनी चाहिये। परन्तु क्रियात्मक रूप में अभी राष्ट्र इस आदर्श से दूर हैं।

सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योजनाओं को आरम्भ करने का श्रेय जर्मनी को है, जहां गत शताब्दी में बिस्मार्क के प्रयत्नों से श्रमिकों के बीमे की व्यवस्था की गई। इगलैंड में सामाजिक सुरक्षा का आरम्भ बीसवीं सदी में हुआ। सर्वप्रथम वृद्धावस्था के लिए पेन्शन की व्यवस्था 'वृद्धावस्था पेन्शन अधिनियम १६०८ के' अन्तर्गत की गई। सन् १६११ में राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम के द्वारा बीमारी व बेकारी के बीमे की व्यवस्था की गई। इसके बाद तो वहां इस क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति हुई।

सन् १६४२ में सर विलियम बेवेरेज (Sir William Beveridge) ने सामाजिक सुरक्षा के लिए एक बहुत ही व्यापक योजना प्रस्तुत की, जिसे Beveridge Plan (बेवरेज योजना) कहा जाता है। इस योजना के आधार पर ही सन् १६४६ में

कानून बनाकर इंगलैंड के प्रत्येक नागरिक के लिए व्यापक सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र की व्यवस्था कर दी गई है। इसमें जीवन में घटित होने वाले प्रायः सब संकटों से सुरक्षा का प्रबन्ध है। आज इंगलैंड सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में विश्व में सबसे अग्रगण्य है। वहां कुल राष्ट्रीय आय का १०% सामाजिक सुरक्षा पर व्यय किया जाता है। ब्रिटेन की सामाजिक सुरक्षा का अध्ययन हम निम्न योजनाओं के अन्तर्गत कर सकते हैं :—

(१) श्रमिक क्षतिपूर्ति व्यवस्था —दुर्घटना के समय श्रमिक को क्षतिपूर्ति करने की व्यवस्था सर्वप्रथम सन् १८८० में की गई, जिसका स्थान १८६७ में श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम ने ले लिया। क्षतिपूर्ति के लिए श्रमिकों को न्यायालयों की शरण लेनी पड़ती थी। यह केवल उन्हीं उद्योगों में लागू किया गया जिन्हें खतरनाक समझा गया। इसे व्यापक बनाने के लिए १६०६ में एक और क्षतिपूर्ति एक्ट बनाया गया। यह सब उद्योगों में लागू किया गया। वे सारे श्रमिक जिनकी वार्षिक आय २५० पौंड से कम थी, इसमें सम्मिलित कर लिये गये। श्रमिकों को स्थायी या आंशिक क्षति के लिए आजीवन भत्ता या औसत साप्ताहिक आय की आधी रकम क्षतिपूर्ति के रूप में देने की व्यवस्था की गई। परन्तु शर्त यह थी कि क्षति जानबूझकर या श्रमिक की लापरवाही के कारण न हुई हो।

(२) वृद्धावस्था पेन्शन योजना:— सन् १६०७ में वृद्धावस्था पेन्शन अधिनियम पास किया गया, जो जनवरी १६०६ से लागू किया गया। इसके अन्तर्गत ७० वर्ष की अवस्था के पश्चात् प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक को पेन्शन दिये जाने की व्यवस्था की गई। पेन्शन पाने के लिए यह व्यक्ति ब्रिटेन का नागरिक हो तथा जिसकी वार्षिक आय के ३१॥ पौंड से अधिक न हो। श्रमिकों और मिल मालिकों को इसमें चन्दा देना अनिवार्य नहीं था। इस प्रकार पेन्शन देने का उत्तरदायित्व राज्य पर ही कर दिया गया।

(३) स्वास्थ्य बीमा — सन् १६११ में राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम पास हुआ। इसके अन्तर्गत १६ वर्ष से ६५ वर्ष की आयु वाले प्रत्येक ब्रिटिश श्रमिक के लिए अनिवार्य स्वास्थ्य बीमे का आयोजन किया गया। इसके लिए मिल मालिक, श्रमिक और राज्य को चन्दा देना अनिवार्य कर दिया। इस निधि में से व्यक्तियों को निःशुल्क चिकित्सा और उपचार की सुविधा दी गई। स्त्री श्रमिकों को प्रसूति के समय भत्ता मिलने का प्रबन्ध किया गया।

(४) बेकारी का बीमा:— यह वास्तव में ब्रिटिश सामाजिक सुरक्षा के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण कदम था। यह बीमा भी राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत सन् १६११ में लागू किया गया। आरम्भ में यह केवल उन्हीं उद्योगों में लागू किया गया, जिनमें बेकारी अधिक थी। धीरे धीरे इसे अन्य उद्योगों में भी आरम्भ कर दिया गया। आर्थिक व्यवस्था का प्रबन्ध श्रमिकों, मालिकों और राज्य द्वारा प्रदत्त शुल्क द्वारा किया गया। बेकारी के काल में प्रत्येक श्रमिक को ७ शि० प्रति सप्ताह सहायता दी जाती थी और एक वर्ष में अधिक से अधिक १५ सप्ताह तक सहायता दी जा सकती थी।

प्रथम महायुद्ध में यह योजना बहुत सफल हुई और बेकारी घटने के कारण प्रगति हुई। सन १६२१ में एक और अधिनियम पास किया, जिसे बेकारी बीमा अधिनियम कहते हैं। इसके द्वारा बेकारी के बीमा क्षेत्र को विस्तृत कर दिया गया। सन् १६३१ में सारी योजना पर विचार करने के लिए शाही आयोग की नियुक्ति की गई, जिसके सुझावों पर सन् १६३४ में इस योजना में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। सन् १६३६ में कृषि-श्रमिकों के लिए भी पृथक् बेकारी के बीमें की योजना प्रचलित की गई।

(Beveridge Plan) बेवरीज योजना.—इस योजना का स्वरूप सर विलियम बेवरीज द्वारा १६४२ में प्रस्तुत किया गया। यह योजना संसार के सामाजिक सुरक्षा के इतिहास में एक क्रान्तिकारी कदम है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य ब्रिटेन में प्रचलित सामाजिक बीमे की विभिन्न योजनाओं को एक सूत्र में बांधकर ब्रिटेन के सब नागरिकों को जीवन के प्रायः सब सम्भावित खतरों से सुरक्षा प्रदान करना था।

इस योजना के अन्तर्गत सारे समाज को ६ वर्गों में विभाजित किया गया है—सेवक, मालिक, गृहिणियां, अन्य व्यक्ति जो कि अर्ध बेकारी की अवस्था में हैं, सोलह वर्ष के कम से कम आयु के लड़के-लड़कियां और सेवामुक्त वृद्ध व्यक्ति। प्रत्येक व्यक्ति के लिए जो इन वर्गों में आ जाते हैं—सामाजिक सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की गई है। मालिक या अन्य धनिक वर्ग चाहे इस योजना से लाभान्वित हो या न हो परन्तु चन्दा देना प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य है। स्त्रियों के लिए विवाह के समय तथा बच्चों के पालन-पोषण के लिए सहायता एवं भत्ता दिये जाने का प्रबन्ध किया गया है। क्षतिपूर्ति बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था पेन्शन के लिए भी इसी प्रकार सहायता व भत्ता दिये जाने की व्यवस्था की गई है।

इस योजना की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लगभग ८० करोड़ पौंड की आवश्यकता का अनुमान किया गया था, जिसे श्रमिकों, मालिकों और राज्य द्वारा प्रदत्त चन्दे से पूरा किया जायगा। चन्दे की दरें और लाभ की मात्रा मूल्यस्तर के अनुसार घटती-बढ़ती रहेगी।

इस योजना के आधार पर फरवरी १६४६ में ब्रिटेन में एक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम पास किया गया, जिसके अन्तर्गत बेवरीज योजना की प्रायः सब महत्वपूर्ण बातों का समावेश कर लिया गया। इस अधिनियम के लागू हो जाने से अब ब्रिटेन में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में आदर्श परिस्थितियां लागू हो गई हैं। ब्रिटेन के नागरिकों को इस योजना ने जीवन के सब कष्टों की चिन्ता से मुक्त कर दिया गया है।

प्रश्न

1. What do you mean by Social Insurance/ it been provided in England?

स्वतन्त्र व्यापार नीति

१९वीं सदी में इंगलैंड द्वारा स्वतंत्र व्यापार की नीति (Laissez Faire Policy) का अपनाये जाना उस देश के आर्थिक विकास के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। यह एक ऐसी घटना थी, जिसने इंगलैंड की आर्थिक प्रगति को एक नया मोड़ दे दिया, जिसके द्वारा वहां के उद्योग एवं व्यापार आदि के लिये विकास के सब मार्ग खुल गये। कच्चे माल तथा खाद्य पदार्थों का आयात बढ़ा, बड़े बड़े कारखानों की संख्या में वृद्धि हुई और भारी मात्रा में वहां सब प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। साख, बैंक, बीमा और यातायात के क्षेत्रों में भी ब्रिटेन ने उन्नति की।

इस समृद्धि का लाभ ब्रिटेन के प्रत्येक वर्ग को हुआ। मिल मालिक और व्यापारी मालामाल हो गये। श्रमिकों के वेतन बढ़े और उनके जीवनस्तर में वृद्धि हुई। अतः यह कथन सत्य है कि स्वतन्त्र व्यापार की नीति के कारण ही १९वीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटेन की आर्थिक समृद्धि में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। यद्यपि इस समृद्धि के अन्य कारण भी थे, जैसे इंगलैंड की अनुकूल स्थिति, नाविक शक्ति तथा आविष्कार आदि। फिर भी यह निर्विवाद है कि इस सम्पन्नता का सबसे प्रमुख कारण यह निर्बाध नीति ही था।

१७वीं और १८वीं सदी में ब्रिटेन में व्यापारवादी नीति (Mercantilism) थी। इस नीति के अन्तर्गत राष्ट्र को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से देश के आर्थिक जीवन के प्रत्येक अंग को राज्य द्वारा नियंत्रित किया जाता था। इस नीति के अनुसार अन्न कानूनों द्वारा विदेशी अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध अथवा भारी कर लगा दिया गया। नाविक शक्ति का विकास नाविक कानूनों द्वारा किया गया। यह व्यापारवादी नीति कृत्रिम कानूनों, प्रतिबन्धों और नियन्त्रणों के द्वारा ब्रिटेन को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने में सफल हुई। अन्न कानूनों के कारण कृषि की दशा में सुधार हुआ। नाविक कानून के कारण ब्रिटेन का जहाजी बेड़ा बहुत शक्तिशाली हो गया। १८वीं सदी के अन्त तक और १९वीं सदी के आरम्भ में इंगलैंड में व्यापारवाद का ही बोलबाला रहा।

१९वीं सदी के आरम्भ में परिस्थितियों में फिर परिवर्तन हुआ और व्यापारवादी नीति की सफलता पर सन्देह प्रकट किया जाने लगा। औद्योगिक क्रान्ति के कारण इन वर्षों में इंगलैंड के आर्थिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। लोग स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन करने लगे। एडमस्मिथ ने अपनी पुस्तक Wealth of Nations में सन् १७७६ में इस नीति का स्पष्टीकरण किया। बाद में इस नीति का समर्थन

रिकार्डो, जेम्स मिल आदि ने भी किया। इस नीति का प्रधान उद्देश्य यह था कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य द्वारा हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये और उद्योग तथा व्यापार व्यक्तिगत क्षेत्रों के लिये छोड़ दिये जायं। राज्य का प्रधान कार्य केवल देश की रक्षा करना और देश में शान्ति बनाये रखना था।

आरम्भ में तो यह नीति केवल एक सिद्धान्त मात्र ही थी। क्रियात्मक रूप में इस पर अमल बहुत बाद में किया गया। सन् १८२४ में (Combination Laws) को समाप्त कर दिया गया और श्रमिकों को अपने संघ बनाने की स्वतन्त्रता दे दी गई।

सन् १८२० में नाविक कानूनों की समाप्ति कर दी गई। सन् १८४५ तक जल यातायात के सम्बन्ध में सामुद्रिक और तटीय प्रतिबन्ध हटाये जा चुके थे।

सन् १८६६ में अन्न कानूनों की समाप्ति हो चुकी थी और खुले रूप में अनाज का आयात होने लगा। व्यापार नीति में भी सुधार किया जाने लगा। कच्चे माल के आयात पर करों को घटा कर कम कर दिया गया। मशीनों के निर्यात प्रतिबन्धों को [illegible] लिया गया। इस प्रकार कई वर्षों के संघर्ष के पश्चात् इंगलैंड में अब स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पूर्ण-रूपेण अवलम्बन होने लगा।

वास्तव में स्वतंत्र व्यापार की नीति का आन्दोलन पूरे वेग से सन् १८२० से आरम्भ हुआ। १८४० से १८७५ तक का काल ब्रिटिश कृषि का काल स्वर्ण युग कहलाता है। लेकिन यही काल ब्रिटिश उद्योग व व्यापार का भी स्वर्णयुग कहलाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसके बाद कृषि की दशा तो गिरती ही चली गई, किन्तु उद्योग और व्यापार प्रथम महायुद्ध तक बढ़ता गया। यह स्वतन्त्र व्यापार की नीति का ही परिणाम था। इस नीति को अपनाने के बाद ब्रिटेन विश्व का सबसे बड़ा औद्योगिक और व्यापारिक राष्ट्र बन गया। अन्न और कच्चे माल का आयात होने लगा तथा निर्मित माल का निर्यात। विदेशी व्यापार में वृद्धि के कारण बैंकिंग, बीमा और यातायात में भी विकास हुआ। इस सर्वांगीण उन्नति में स्वतंत्र व्यापार की नीति का ही हाथ था।

स्वतंत्र व्यापार की नीति का परित्याग

सन् १८७० के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हो गई, जिनके कारण स्वतन्त्र व्यापार की नीति के विरुद्ध लोगों में प्रतिक्रिया होने लगी। इस नीति के समर्थकों का यह विचार है कि संसार के सब देश इस नीति का अनुसरण करें, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होगी और सब देशों को इससे लाभ होगा—निर्मूल सिद्ध हुआ। अन्य देशों ने स्वतन्त्र व्यापार के स्थान पर संरक्षण की नीति अपना ली। दूसरी बात यह थी कि अन्य देशों ने भी औद्योगिक उन्नति कर ली थी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ब्रिटेन की प्रतियोगिता करने लगे थे। अतः यह आवश्यक समझा जाने लगा कि प्रतियोगिता से बचने के लिए ब्रिटेन भी संरक्षण की नीति अपना ले। स्वतन्त्र व्यापार की नीति में लोगों का विश्वास न रह

गया था और उसकी सफलता में सन्देह होने लगा था । सन् १८७५ के बाद ब्रिटिश कृषि की दशा गिरने लगी और बाहरी प्रतियोगिता के कारण अन्न के भाव बहुत अधिक गिर गए ।

मन्दी की परिस्थितियों व विदेशी व्यापार के असन्तुलन के कारण स्वतन्त्र व्यापार की नीति असफल होने लगी । बाहरी सस्ते अनाज एव अन्य सस्ते माल के स्वतंत्र आयात के कारण ब्रिटिश कृषि व उद्योगों की दशा गिरने लगी । विदेशी बाजारों में भी जर्मनी और अमेरिका के माल द्वारा प्रतियोगिता होने लगी ।

इस कठिनाई से बचने के लिए यह कहा जाने लगा कि आयात कर नीति के सबंध में ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों में गठबन्धन हो जाना चाहिए । अन्य राष्ट्रों के माल पर आयात कर लगाना जाना चाहिए और उपनिवेशों के माल पर आयात कर में रियायतें दी जाय । इसी प्रकार ब्रिटिश माल पर भी उपनिवेशों द्वारा अन्य देशों के माल की अपेक्षा कम दर पर आयात कर लगाना चाहिए । इस बात का प्रयत्न किया गया कि स्वतन्त्र व्यापार की नीति के स्थान पर पारस्परिक व्यापार स्वीकार करने और औपनिवेशिक प्राथमिकता (Imperial Preference) की नीति अपनाई जाये ।

प्रथम महायुद्ध आरम्भ होते ही कई वस्तुओं पर आयात कर लगा दिया गया । सन् १९१५ में कई विलास की वस्तुओं, जैसे मोटर साइकिल, सिनेमा फिल्म्स, घड़िया, ग्रामोफोन आदि पर आयात कर लगाये गए । जहाजों की कमी और विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के कारण यह कदम उठाया गया । युद्ध के बाद भी ये कर जारी रहे । सन् १९१९ में उपनिवेशों से आने वाले माल पर इन करों में कुछ कमी कर दी गई । सन् १९२० में रंग उद्योग को संरक्षण दिया गया और १९२२ में उद्योग सुरक्षा अधिनियम के द्वारा विदेशी सस्ते माल पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और कई अन्य वस्तुओं पर कर लगा दिए गए ।

इस काल में मन्दी और बढ़ती जा रही थी । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी हो रही थी । युद्ध के कारण कई देशों की आर्थिक व्यवस्था छिन्नभिन्न हो गई थी और लोगों की क्रय शक्ति गिर गई थी । अन्य देशों में औद्योगीकरण बढ़ रहा था और उन्होंने भी अपने जहाजी बेड़ों का विकास कर लिया था तथा अब वे जल यातायात में ब्रिटेन के साथ प्रतियोगिता करने लगे थे ।

दूसरी ओर ब्रिटिश उद्योगों की दशा गिरती जा रही थी और उनमें अन्य देशों से प्रतियोगिता करने की क्षमता नहीं रह गई थी । निर्यात का मूल्य एव परिमाण कम हो गया था और विदेशी व्यापार का सन्तुलन बिगड़ रहा था । इन सब कारणों से कई ब्रिटिश कम्पनियों को भारी हानि सहन करनी पड़ रही थी । अत अब जनमत स्वतन्त्र व्यापार की नीति के नितान्त विरुद्ध था और संरक्षण की नीति का समर्थन किया जा रहा था ।

सन् १९३२ में उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण संरक्षण की नीति अपना ली गई और आयात कर अधिनियम पास किया गया । इसके अन्तर्गत कुछ वस्तुओं को छोड़कर शेष

सब वस्तुओं पर आयात कर लगा दिया गया। अनाज के आयात पर भी कर लगाया गया। कुछ वस्तुओं पर तो ५० से १००% तक आयात कर लगाया गया। आयात-निर्यात कर घटाने-बढ़ाने और टटकर नीति में संशोधन करने के लिए एक परामर्शदात्री समिति की नियुक्ति की गई। सन् १९३२ में हुए समझौते के अनुसार शाही संरक्षण की नीति को अपना लिया गया।

इस प्रकार इंगलैंड ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति, जो वहाँ पिछली एक शताब्दी से प्रचलित थी, उसका परित्याग कर दिया और अब वह भी संरक्षणवादी देशों की श्रेणी में आ गया। नीति में यह परिवर्तन तत्कालीन आर्थिक आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के कारण किया गया। इस संरक्षण की नीति को अपना लेने से इंगलैंड को निम्नलिखित लाभ हुए:—

(१) राष्ट्र की आय में वृद्धि हुई और इन करों का भार सारी जनता पर समान रूप से पड़ा।

(२) उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हो गया और वे बाहरी सस्ते माल की प्रतियोगिता से बच गये।

(३) इसमें आयात पर रोक लग गई एवं निर्यात को प्रोत्साहन मिला, जिसके कारण विदेशी व्यापार का असन्तुलन ठीक हो गया।

(४) उपनिवेशों के साथ शाही प्राथमिकता (Imperial Preference) के कारण व्यापारिक सम्बन्ध अच्छे हो गए।

(५) असंतुलित व्यापार के कारण स्टर्लिंग मुद्रा का अवमूल्यन हो रहा था, वह रुक गया और सन्तुलन स्थापित हो जाने से स्टर्लिंग ने अपने पूर्व मूल्य को प्राप्त कर लिया।

(६) सस्ते अनाज पर कुछ कर लग जाने से ब्रिटिश कृषि को भी लाभ हुआ।

उपर्युक्त लाभों को देखते हुए इस नीति का अपनाया जाना उचित ही था। इसने इंगलैंड की गिरती हुई आर्थिक दशा में सुधार कर दिया। यद्यपि इंगलैंड अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने उस खोये हुए स्थान को तो न प्राप्त कर सका, जो कि उसे प्रथम युद्ध से पूर्व प्राप्त था, फिर भी संरक्षण के द्वारा उसने अपनी गिरती हुई आर्थिक अवस्था को रोक ही नहीं लिया, बल्कि कुछ सुधार भी कर लिया।

प्रश्न

1. In what ways did the British Govt. deviate from the usual Free Trade Policy after the war of 1914-18? Explain the circumstances which necessitated this change.
2. The adoption of Free Trade Policy in England was a turning point in the history of her economic development Comment
3. The characteristic change in British Commercial Policy after 1815 is a reaction from world Economics to Imperial Economics."—Knowles. —Discuss.

अध्याय ६

बैंकिंग और राजस्व

बैंकिंग व्यवस्था

ईसाई धर्म द्वारा ब्याज लेना वर्जित था, साथ ही उस समय ब्याज लेना कानूनी अपराध समझा जाता था। इस स्थिति में बैंकिंग व्यवसाय के आरम्भ होने की कोई सम्भावना न थी। धीरे धीरे लोग सोचने लगे कि पूंजी को व्यापारी अपने व्यवसाय में लगा कर लाभ अर्जित करते हैं तो धन देने वालों का भी कुछ भाग उस लाभ में होना चाहिये।

सन् १५४५ में कानून द्वारा ब्याज लेना वैध कर दिया गया। सन् १६७४ में ब्याज की अधिकतम दर ८% कर दी गई।

इंगलैंड में बैंकिंग का आरम्भ १७वीं शताब्दी में हुआ। उस समय लोग अपने धन को सुरक्षित रखने के लिए सुनारों के पास रख देते थे। इस जमा धन में से आवश्यकता पड़ने पर समय समय पर लोग धन निकालते थे। इस प्रकार सुनारों ने लोगों को आकर्षित करने के लिए जमा धन पर ब्याज देना भी आरम्भ कर दिया और जमा धन का एक भाग ब्याज पर उधार भी देने लगे।

सन् १६९४ में बैंक आफ इंगलैंड (Bank of England) की स्थापना हुई। इस बैंक को व्यवसाय करने के लिये सरकार से अधिकार पत्र (Charter) मिल गया था। सन् १८२६ तक यही बैंक एक सम्मिलित पूंजी वाला बैंक था।

सन् १७५० से पहले बैंकिंग मुख्यतर लन्दन तक ही सीमित था। देहातों में जो भी बैंक थे, वे निजी थे। गांवों में व्यापारी व्यापार के साथ बैंकिंग कार्य भी करते थे।

औद्योगिक क्रांति के कारण बैंकिंग व्यवसाय का भी बहुत विस्तार हुआ। जगह जगह निजी बैंक खुल गये थे। परन्तु बैंकिंग व्यवसाय सीमित साधनों वाले सामान्य योग्यता के लोगों के हाथ में था। १७६३ और १८२५ के बीच के आर्थिक संकटों के कारण कितनी ही बैंकें फेल हो गई।

सन् १८१५ में इन छोटे छोटे निजी बैंकों के विपक्ष में यह कहा गया कि ये सट्टा करते हैं, प्रबन्ध अकुशल है और ये अपर्याप्त जमानत पर ऋण देते हैं।

बैंकों के अधिक संख्या में फेल होने के कारण सरकार का ध्यान इस ओर गया। सन् १८२६ के कानून के द्वारा लन्दन से ६५ मील दूर के स्थानों पर सम्मिलित पूंजी वाले बैंक स्थापित किये जा सकते हैं, जिन्हें नोट निगमन का अधिकार होगा। सन् १८३३ के कानून के अनुसार सम्मिलित पूंजी वाले बैंकों को लन्दन में अपने कार्यालय स्थापित करने

का अधिकार मिल गया। इन कानूनों ने इंगलैंड में महत्वपूर्ण बैंकों के स्थापित होने में सहयोग दिया।

परन्तु इस समय तक अपरिमित दायित्व [redacted] (Unltd Liability) सिद्धान्त चलता था, इसलिए कम्पनियों और साझेदारी में कोई अन्तर न था। सन् १८५५ में कम्पनियाँ सीमित दायित्व के सिद्धान्त के अनुसार रजिस्टर्ड हो सकती थी। सन् १८५८ में यह सिद्धान्त बैंकिंग कम्पनियों के लिए भी लागू कर दिया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अंश-धारी अपनी शेयर की रकम तक के लिए ही उत्तरदायी माना जाता था। इस सिद्धान्त के लागू होने से बड़ी बड़ी बैंकिंग कम्पनियों की स्थापना होने लगी। इन्होंने स्थान स्थान पर शाखाएं भी खोलना आरम्भ कर दिया।

बड़े बैंकों के विकास की यह प्रवृत्ति २०वीं शताब्दी में भी चलती रही। ये बैंक प्रचुर साधन होने के कारण बड़े सकटों का सामना करने में समर्थ हो सके और लोगों के विश्वास को प्राप्त कर सके। आजकल इंगलैंड का बैंकिंग व्यवसाय बैंक आफ इंगलैंड तथा पाच बड़े बैंकों द्वारा होता है, जिनकी शाखाएं देश के विभिन्न भागों में हैं। इनकी शाखाएं विदेशों में भी हैं। ये ५ बड़े बैंक हैं—(१) बार्कलेज (Barclays), (२) (Liyds) लायड्स, (३) मिडलैंड (Midland), (४) वेस्ट मिनिस्टर (West Minister) तथा (५) नेश-नल प्रोविंशल (National Provincial).

सन् १८४४ के बैंक कानून द्वारा बैंक आफ इंगलैंड के दो विभाग हो गए—बैंकिंग तथा नोट निर्गम विभाग (Issue Department) लदन के किसी अन्य बैंक को नोट निर्गम का अधिकार नहीं रहा। सन् १९२१ से बैंक आफ इंगलैंड द्वारा ही नोट निर्गमन किया जा सकता था। सन् १८४४ के बाद से ही चैकों का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा।

इंगलैंड का बैंक सन् १६९४ में स्थापित हो चुका था। धीरे धीरे इसका महत्व बढ़ता गया और वह देश का केन्द्रीय बैंक (Central Bank) के रूप में कार्य करने लगा। नोट निर्गमन का उसे एकाधिकार प्राप्त हो गया। सरकार के सारे बैंकिंग सम्बन्धी कार्य उसको सौंप दिये गए। वह सरकारी ऋण का प्रबन्ध करने लगा और आर्थिक मामलों में सरकार को परामर्श देने लगा। यह बैंकों का बैंक (Bankers Bank) बन गया और इस प्रकार दूसरे बैंक इसमें धन जमा कराने तथा उससे ऋण लेने लगे, जिससे आर्थिक स्थिरता आ गई। सन् १९४६ में इस बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

राजस्व (Finence)

इंगलैंड के राजस्व की स्थिति परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही है। व्यापार-वादी युग में आयात-निर्यात के कर राज्य की आय के मुख्य साधन थे। परन्तु निर्बाध व्यापार नीति (Laissez Faire or Free Trade Policy) के कारण ये आय के स्रोत कम होते गए। परन्तु सन १९३२ में संरक्षण की नीति अपनाई जाने के फलस्वरूप आयात-निर्यात करों की फिर से महत्ता बढ़ गई। आयकर (Income Tax) आरम्भ

में अस्थायी तौर पर लगाये गये थे, परन्तु बाद में आय के स्थायी साधन बन गए। ऋणों का परिणाम बहुत अधिक बढ़ गया।

१६८८-८६ से पूर्व इंगलैंड में राजा की प्रधानता थी और उसकी जो आय होती थी, उसी से सरकार का व्यय चलता था। बाद में पार्लियामेंट पर उत्तरदायित्व आ गया और राजा की आय और दरबार के खर्चे प्रशासन के सामान्य व्यय से पृथक कर दिये गये। राजा को प्रतिवर्ष दी जाने वाली राशि पहले से निश्चित कर दी जाती थी।

सन् १८६६ से सार्वजनिक आय-व्यय के निरीक्षण का कार्य कन्ट्रोलर एवं आडिटर जनरल के द्वारा किया जाने लगा।

आयात-निर्यात कर

सन् १६६७ से पूर्व सरकारी आय के मुख्य साधन आयात-निर्यात कर तथा उत्पादन कर थे। बाद में कुछ वस्तुओं पर से सीमा शुल्क हटा दिया गया और अनेक पर कम कर दिया क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि इससे व्यापार में वृद्धि होगी और लोगों की सम्पन्नता बढ़ेगी।

सन् १७८३ से मुक्त व्यापार नीति अपनाने के कारण बहुत से अप्रत्यक्ष करों (Indirect Taxes) में कमी की गई, जैसे चाय पर आयात कर ११% से घटाकर १२॥% कर दिया।

नेपोलियन युद्धों की समाप्ति पर सन् १८१६ में आयकर (Income Tax) हटा दिया गया। इस कारण पुनः आयात कर लगाए गए, जिससे साधारण जनता पर कर का भार बढ़ गया।

सन् १८२३ से मुक्त व्यापार की ओर फिर प्रवृत्ति बढ़ी। निर्यात की कुछ वस्तुओं पर जो आर्थिक सहायता दी जाती थी, उसे बन्द कर दिया गया। इसके साथ ही अनेक वस्तुओं पर जो भारी कर लगाये जाते थे, उनमें कमी कर दी गई।

सन् १८४२ में कच्चे माल की अनेकों वस्तुओं पर से आयात कर हटा दिया गया तथा कई निर्मित वस्तुओं पर से निर्यात कर समाप्त कर दिया गया।

सन् १८५५ में क्रीमिया युद्ध के कारण चाय, चीनी, काफी और मदिरा पर आयात कर बढ़ा दिये गये। सन् १८६० में मुक्त व्यापार नीति अपनी चरम सीमा पर थी, केवल ४८ वस्तुओं पर जो कर रह गए थे, वे भी संरक्षणात्मक नहीं थे।

सन् १९३२ में संरक्षण की नीति को अपनाया गया और वस्तुओं के मूल्य पर आयात कर लगा दिये गए।

आयकर

यह सर्वप्रथम १७६८ में लगाया गया। यह युद्ध कर के रूप में लगाया गया था और १८१६ में हटा दिया गया था। सन् १८४२ में जब व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए बहुत सी वस्तुओं पर से सीमा शुल्क हटा दिया गया था, तो अस्थायी तौर से आयकर फिर लगा

दिया गया। क्रीमिया युद्ध, भारत का विद्रोह तथा चीन व रूस के युद्धों के कारण आयकर जारी रहा। परन्तु बदलती हुई परिस्थितियों के कारण आयकर की दरें घटती बढ़ती रहीं।

सन् १९०७ में आयकर को आय का स्थायी साधन मान लिया गया और १९०९ में सुपर टैक्स भी लगाया गया। १९१४-१८ के महायुद्ध के समय आयकर और सुपर टैक्स की दरों में वृद्धि की गई। अब ये सरकार की आय के स्थायी व महत्वपूर्ण साधन हैं।

भूमिकर

सर्वप्रथम १६९२ में लगाया गया। यह प्रथम प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) था, जो इंगलैण्ड में सर्वप्रथम लगाया लगाया। गया।

मृत्युकर

यह सर्वप्रथम १८९४ में लगा, जब ग्लैडस्टन प्रधान मन्त्री थे। यह कर अब सम्पत्ति कर के नाम से प्रसिद्ध है। यह कर मृतक व्यक्तियों द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर लगता है। सन् १९०७ में इसकी दरें बढ़ा दी गईं। सरकार की आय का यह वर्तमान समय में अत्यत महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा राज्य की आय बढ़ने के साथ ही समाज में विषम सम्पत्ति-वितरण का दोष भी कम हो जाता है।

लोक ऋण

सङ्कटकालीन स्थिति में विशेषकर युद्धकाल में सरकार का व्यय उसकी सामान्य आय से नहीं पूरा हो पाता। देश की रक्षा करने के लिए तथा युद्ध के लिए ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसे ऋण सामान्यतः अनिश्चित काल के लिए लिये जाते हैं और उनको Funded Debts कहते हैं। जो निश्चित काल के लिए लिये जाते हैं उन्हें Unfunded Debts कहते हैं।

इंगलैण्ड में अनिश्चित कालीन ऋण का प्रारम्भ सन् १६९३ में हुआ। कालान्तर में ऋण की राशि में निरन्तर वृद्धि होती गई, जिसका प्रमुख कारण युद्धों का होना था।

प्रश्न

1. Trace the origin of the development of Banking in England, and in this connection indicate the position of Bank of England.
2. Give a short account of the chief sources of Income of British Govt & trace their origin.

तृतीय भाग

अध्याय १–७

रूस का आर्थिक विकास

अध्याय

अमेरिका के बाद रूस ही ऐसा देश है, जिसमें प्राकृतिक सम्पदा प्रचुर मात्रा में है। विस्तृत उपजाऊ क्षेत्र तथा प्रत्येक प्रकार की जलवायु और सतत परिश्रमी लोगों के कारण रूस आज विश्व में एक विशेष महत्वपूर्ण स्थिति रखता है। रूस की आर्थिक विशेषता की निम्न लिखित मुख्य बातें हैं —

(१) विशाल देश – रूस एक महान् देश है। उसका क्षेत्रफल २२५ वर्ग किलोमीटर है, जो भारत के क्षेत्रफल से ६ गुना है। उसकी २० करोड़ से अधिक जनसंख्या है। तथा इस दृष्टि से उसका विश्व में तीसरा स्थान है। वह उत्तर से दक्षिण तक २७०० मील तथा पूर्व से पश्चिम तक ७,००० मील तक फैला हुआ है। उसके शक्ति के साधन बहुत अधिक हैं। खनिज सम्पदा के अटूट भंडार हैं, जैसे पेट्रोल, लोह, सोना, प्लेटीनम आदि। यूराल, काकेशस, मध्य साइबेरिया के मुख्य पहाड़ी क्षेत्रों से निकली नदियां यातायात के और सिंचाई के लिये प्रसिद्ध हैं।

कृषि के लिये उपयोगी जलवायु व विस्तृत समतल भूमि के कारण प्राय सभी प्रमुख फसलें यहां उत्पन्न की जाती हैं, जैसे–गेहूं,जौ, ओट फ्लेक्स, चुकन्दर, कपास, तिलहन आदि खेती बड़े बड़े राजकीय फार्मों में यन्त्रों तथा वैज्ञानिक तरीकों से की जाती है। इसके अतिरिक्त पशुपालन व मत्स्य उद्योग के प्रसिद्ध क्षेत्र भी यहा हैं। इसप्रकार प्राकृतिक सम्पदा तथा परिश्रमी जनता के सहयोग से ही रूस विश्व में सबसे आगे बढ़ने में प्रयत्नशील है।

(२) राजनैतिक व्यवस्था – भिन्नि भिन्न जातियों से भरा यह देश धीरधीरे संगठन शक्ति और स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हुआ। पहले यहाँ सामन्तवादी राज्य 'जार' का चलता था, परन्तु जार के आतंकवादी तथा अत्याचारपूर्ण राज्य का अन्त १९१७ की क्रान्ति के बाद समाप्त हो गया, जब लेनिन ने शासन सभाला। लेनिन की मृत्यु (१९२४) के पश्चात् स्तालिन के नेतृत्व में रूस ने आश्चर्यजनक उन्नति की। स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव ने राष्ट्र की रुकती हुई प्रगति को नया जीवन दिया।

आज रूस में मजदूरों की सरकार समाजवादी ढंग पर स्थापित है। द्वितीय महायुद्ध के बाद वह आर्थिक दृष्टिसे इतना शक्तिशाली होगया कि अन्य बड़े राष्ट्रभी भयभीत रहते हैं।

(३) योजनाबद्ध कार्यक्रम – विश्व में रूस ही ऐसा राज्य है जहा इतने कम समय में योजनाओं द्वारा इतनी अधिक उन्नति हुई है। एक समय में अत्यन्त पिछड़ी अवस्था में होते हुए बिना किसी विदेशी सहायता के भारी मात्रा में औद्योगीकरण करना दूसरे देशों के लिए एक आदर्श बन गया है। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद प्रत्येक राष्ट्र आज प्रगति करना चाहता है और इसके लिये रूस का उदाहरण अनुकरणीय है।

(४) वैज्ञानिक प्रगति – विज्ञान के क्षेत्र में रूस ने अभूतपूर्व उन्नति कर ली है यह इसके द्वारा छोड़े गये स्पुतनिक से स्पष्ट है। इस प्रकार के वैज्ञानिक प्रयत्नों से प्राकृतिक शक्तियों का उचित उपयोग होकर एक नई अणुशक्ति प्रधान औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ होने को है। अत संसार के भविष्य निर्माण में इसका बहुत बड़ा हाथ होना निश्चित सा है।

राज्यक्रान्ति के पूर्व की स्थिति

१६१७ की क्रान्ति के पूर्व रूस एक सामान्य देश था। प्रति व्यक्ति आय बहुत कम थी तथा श्रमिकों की अकुशलता के कारण उत्पादन कम था। लोगों का जीवन-स्तर निम्न था। देश का औद्योगीकरण नहीं हुआ था तथा जनसंख्या का अधिक भाग कृषि पर आश्रित था।

उपभोक्ता सामग्री के लिये रूस को अधिकतर आयात पर ही निर्भर रहना पड़ता था। मशीनों के अभाव में औद्योगिक प्रगति नहीं हो पाई थी यातायात के साधन अविकसित अवस्था में थे।

इस समय की आर्थिक स्थिति का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है:—

(१) कृषि—जार के समय लगभग ८८%जनसंख्या का जीवननिर्वाह कृषि द्वारा होता था। जनसंख्या की वृद्धि तथा निर्यात की नीति के कारण वास्तविक दशा ठीक नहीं थी। किसानों का शोषण बना रहा और अधिकतर कृषि पुराने तरीकों से ही चलती रही।

सन् १८६१ के बाद ग्राम समुदाय (Village Commune) बहुत शक्तिशाली बन गये। जनसंख्या के बढ़ने के साथ साथ खेत छोटे होते गये और किसानों की दशा शोचनीय होती गई। धनी किसानों का अभाव अधिक बढ़ गया, जिससे ग्राम समुदायों को कार्य करना सम्भव न रहा और १८६० तक इनका पतन होगया।

सन् १८६१ के दास मुक्ति कानून के बाद यद्यपि किसानों को खेत अवश्य मिलने लगे, परन्तु भूमि की कमी तथा मुआवजे के कारण उनकी दशा शोचनीय हो गई। सन् १८७२ के कमीशन ने किसानों की दुर्दशा का प्रमुख कारण असमान और पक्षपात राज्य कर बताया। वार्षिक भुगतान न दे सकने के कारण किसानों की खेती के स्थान पर बड़े पैमाने पर पूंजीवादी खेती आरम्भ हो गई।

पूंजीवादी खेती के आरम्भ होने से उत्पादन अवश्य बढ़ा, परन्तु किसानों की अधिक दुर्दशा हो गई तथा चरागाह, जंगल आदि भूमि पर खेती की जाने लगी। सन् १६०० तक पूंजीवादी खेती का स्पष्ट रूप सामने आ गया। इस समय धनी, तेज तथा कुशल छोटे से वर्ग ने अपनी पूंजी से निर्धन, विवश किसानों की भूमि खरीद कर उनसे मजदूरी पर काम कराना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार दो वर्ग हो गये—एक तो निर्धन किसानों का जो अपनी भूमि बेचकर मजदूर बन गया और दूसरा समृद्धिशाली पूंजीपतियों का जिन्होंने

बड़े पैमाने पर मशीनों से वैज्ञानिक ढंग से खेती करना आरम्भ कर दिया। इस धनी वर्ग का प्रभाव बढ़ता गया। सन् १८८३ में कृषक भूमि बैंक (Peasant Land Banks) की स्थापना हुई, जिनका उद्देश्य किसानों को भूमि खरीदने में आर्थिक सहायता करना था।

सन् १८८५ में सामंत भूमि बैंक स्थापित हुए, जो भूमि को बंधक रखकर भूस्वामियों को ऋण देते थे।

सन् १८७५-८५ की मंदी ने अनाज का दाम गिरा दिया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निर्धनता, समृद्धिशाली किसानों द्वारा शोषण तथा राज्य की अनिश्चित नीति ने आने वाले विद्रोह की नींव डाली। श्रमिकों की बढ़ती हुई संख्या और संगठन, विभिन्न स्थानों पर किसान विद्रोह श्रमिक हड़ताल, बुद्धिवादी वर्ग में क्रांति की भावना, सरकार की अयोग्यता आदि तत्वों ने राज्यक्रांति का वातावरण उत्पन्न किया।

सन् १९०६-१३ के समय में खेती की अधिक उन्नति हुई। अन्न तथा व्यापारिक फसलें बढ़ीं, परन्तु फिर भी प्रति एकड़ उत्पादन की दृष्टि से रूस का स्थान सबसे नीचा था। विस्तृत क्षेत्र होने के कारण देशी पूंजी अपर्याप्त रही और इस प्रकार विदेशी पूंजी का अधिक प्रयोग हुआ।

कृषि सुधार की महत्वपूर्ण योजना पीटर के काल में बनाई गई। सन् १९०६ के कानून द्वारा व्यक्तिगत किसानों की भूमि उनके स्वामित्व में दे दी गई। व्यक्तिगत खेतों को बेचने तथा उत्तराधिकारियों को देने का पूर्ण अधिकार दिया गया। बिखरे हुए खेतों के स्थान पर बंधे हुए खेत देने के प्रयत्न किए गए।

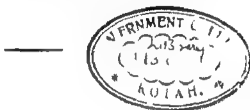
इन सुधारों की राजनैतिक पृष्ठभूमि थी। पीटर कृषि सुधार की आड़ में बढ़ती हुई क्रांतिकारी प्रवृत्तियां रोकना चाहता था और इसके लिए स्वतंत्र व्यक्तिगत किसानों का एक शक्तिशाली वर्ग स्थापित कर रहा था। परन्तु उसकी यह आकांक्षा विफल ही रही। इन सुधारों से धनी व्यापारियों की शक्ति अधिक प्रबल बन गई। कृषक बैंक भूमि को बेचने का कार्य करता था, जिससे भूमिहीन छोटे किसानों को लाभ नहीं हुआ। अधिकतर यह भूमि समृद्धिशाली किसानों में बंटा असंतोष फैल गया। इस प्रकार इन सुधारों ने क्रांति की लहर रोकने के स्थान पर तत्कालीन संगठन के विध्वंस को ही प्रोत्साहित किया।

१९१४ में विश्वयुद्ध आरम्भ हो जाने से सुधारों को स्थगित कर दिया गया। युद्ध-काल में कृषि पर अधिक भार रहा। श्रमिकों की बड़ी कमी रही, क्योंकि अधिकतर व्यक्ति सेना में भर्ती हो गये, मशीनों खाद बीज और पशुओं का बड़ा अभाव रहा। परिणाम-स्वरूप अनाज के उत्पादन में बहुत कमी हुई। देश के सामने अन्न का भीषण संकट आया। सरकार कृषि उत्पादन को निश्चित दर से खरीदने लगी, जिससे असंतोष फैला। सरकार की इस अविवेकपूर्ण नीति ने कटु परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं और देश शीघ्रगति से क्रान्ति के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

के समय में ही स्थापित हुई। सड़कों की भी दशा अच्छी नहीं थी। २०००० मील लम्बी सड़कों में केवल ३०२० मील लम्बी सड़कें ही पक्की थीं। रूस जैसे विस्तृत देश के लिये ये साधन अपर्याप्त थे।

सामाजिक स्थिति

उस समय शिक्षा, स्वास्थ्य व चिकित्सा आदि सामाजिक सेवाओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया जा सकता था। इन सामाजिक परिस्थितियों के कारण भी लोगों में क्रान्ति की भावना का उदय हुआ।



अध्याय ३

रूस की राज्य क्रान्ति

रूस की राज्यक्रान्ति के आर्थिक परिणाम देखने से पूर्व रूस की उस आर्थिक स्थिति पर दृष्टिपात करना उचित होगा, जिसने क्रान्ति का वातावरण तैयार किया।

रूस के पास प्रथम महायुद्ध के समय साधनों का नितान्त अभाव था और युद्ध के कारण इनकी आवश्यकता और भी प्रतीत हो रही थी—यहां तक कि १९१६ की शरद् ऋतु तक रूस की आर्थिक स्थिति पूर्ण रूप से अव्यवस्थित हो गई। जर्मनी जैसे शत्रु के विरुद्ध रूस में युद्ध सामग्रियों का उत्पादन बहुत ही कम था। मित्र राष्ट्रों से इन सामग्रियों के आयात के प्रयत्न किये गये, परन्तु दूरी इतनी अधिक थी तथा यातायात के साधन इतने अपर्याप्त थे कि रूस को केवल हजारों मील लम्बी ट्रान्स साइबेरियन रेल्वे पर ही निर्भर रहना पड़ा। औद्योगिक क्षेत्र में लोह, इस्पात और कोयले का उत्पादन १९१६ में १९१४ के परिणाम में बहुत कम था।

युद्ध सामग्री की कमी के कारण सेना में अधिक से अधिक व्यक्तियों की भर्ती होने लगी। इस भर्ती के कारण औद्योगिक और कृषि क्षेत्रों के लिये मजदूरों की संख्या घटने लगी। निर्मित वस्तुओं के साथ साथ खाद्यान्न और ईंधन की भी कमी होने लगी। इस प्रकार संकट बढ़ता ही जा रहा था, सरकार का कार्य रुक गया और १२ मार्च १९१७ को ज़ार को गद्दी छोड़नी पड़ी।

इस घटना के पश्चात् सारे देश में एक बड़ी संकटपूर्ण स्थिति आ गई। रेल्वे प्रणाली पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न होने लगी। देश में ईंधन का अकाल हो गया। भट्टियां के ठंडी रहने के कारण कच्चे लोहे का उत्पादन बहुत कम हो गया सूती और आटे की मिलों को भी काम बन्द करना पड़ा। महत्त्वपूर्ण औद्योगिक शहरों के मिल मालिक तालेबन्दी द्वारा श्रमिकों की मांगों का उत्तर दे रहे थे। १९१६-१७ में औद्योगिक उत्पादन युद्ध के पूर्व तुलना में केवल ७१% था। नवम्बर १९१७ तक जबकि बोल्शेविक क्रान्ति हुई, स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि इससे बदतर कोई न हो सकती थी।

कृषि अशान्ति शीघ्रता से फैल रही थी और औद्योगिक विकास ठप्प सा हो गया था। श्रमिकों के नेता शक्ति प्राप्त कर रहे थे। अन्तरिम सरकार की शक्ति क्षीण होती जा रही थी। अक्टूबर १९१७ में खानों में हड़ताल की एक लहर सी दौड़ रही थी, जिसके परिणाम-स्वरूप खानों का नियंत्रण खान में काम करने वालों के पास आ गया। सन् १९१७ के अगले कुछ महीनों में क्रान्ति का प्रारम्भिक काल आरम्भ हुआ। इन आरम्भ के कुछ महीनों के रूसी राज्य में तुरन्त समाजवाद को अपनाने का प्रश्न नहीं था। प्रश्न था

आर्थिक नियंत्रण के महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार करना और नये राज्य की राजनैतिक शक्ति को सुदृढ़ करना। सदैव हड़ताल का भय था और उद्योगों को गतिशील रखने के प्रयत्न करने आवश्यक थे।

१४ नवम्बर १६१७ को श्रमिक नियंत्रण आदेश घोषित किया गया, जिससे प्रत्येक उद्योग की श्रमिक समितियों को प्रबन्ध और नियंत्रण में भाग लेने का अधिकार मिल गया, परन्तु इस आदेश में श्रमिकों को कारखानों पर अधिकार करने का निषेध था।

क्रान्ति के दूसरे दिन ही अर्थात ८ नवम्बर १६१७ को नई सरकार ने भूमि अधिकारों की घोषणा कर दी, जिसके द्वारा भूस्वामियों के समस्त अधिकार बिना मुआविजा दिये ही समाप्त कर दिये गये और उनकी समस्त भूमि, सम्पत्ति, शाही भूमि, चर्च भूमि, पशु, औजार, खलिहान और भवन आदि स्थानीय समितियों को हस्तांतरित कर दिए गये। कृषकों ने कई स्थानों पर स्वयं भूमि का बटवारा करना शुरू कर दिया। इसलिये फरवरी १६१८ में सब प्रकार की भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और प्रत्येक किसान को उसके परिवार के सदस्यों की संख्या के अनुसार खेती करने के लिये भूमि दे दी गई। किसानों को उत्पादन बढ़ाने को निर्देशित किया गया। इस प्रकार शताब्दियों से चला आ रहा भूस्वामी का अभिशाप समाप्त हो गया।

इसी समय बैंकों, गोदामों व बीमा का राष्ट्रीयकरण करना निश्चित किया गया। उस समय केवल महत्वपूर्ण उद्योगों को ही सरकार के अधीन किया गया। पूरे उद्योग का राष्ट्रीयकरण करना वाञ्छनीय नहीं समझा गया। कुछ फर्मों का राष्ट्रीयकरण निम्न कारणों से किया गया.—

(१) राष्ट्र के लिये फर्म की महत्ता।
(२) मिल मालिकों द्वारा श्रमिक नियंत्रण आदेश की अवज्ञा।
(३) मिल मालिकों द्वारा तालेबन्दी की नीति अपनाना।
(४) मिल मालिकों द्वारा विप्लव में भाग लेना।
(५) मिल मालिकों द्वारा श्रमिकों को काम से हटाना।
(६) कच्चे माल और ईंधन के पर्याप्त होने पर भी मिल मालिकों द्वारा उत्पादन रोकना।
(७) किसी भी कारण से मिल का कार्य रुक जाना।

इसी समय ऐसे प्रस्ताव भी थे, जिनमें सरकार और प्राइवेट रूसी या विदेशी मिल कर मिश्रित कम्पनियां खोल सकें। परन्तु इन प्रस्तावों की तीव्र आलोचना की गई।

बहुत से छोटे उद्योगों का प्रशासन कुछ केन्द्रों को सौंप दिया गया, जिनके पास उद्योगों को नियंत्रित करने के विस्तृत अधिकार थे। दिसम्बर १६१७ में सुप्रीम इकोनोमिक कौंसिल (Supreme Economic Council) निर्मित की गई। इस कौंसिल के विभिन्न विभागों के द्वारा बड़े उद्योगों का नियन्त्रण किया जाने लगा। इस कौंसिल के सदस्य सरकारी प्रतिनिधि,

श्रमिक श्रमिक संघ के प्रतिनिधि और तात्रिक विशेषज्ञ थे। इसका प्रमुख कार्य श्रमिक समितियों के कार्यों का समन्वय करना और राष्ट्रीयकरण के लिये उचित प्रणाली निर्धारित करना था। इस प्रकार यद्यपि केन्द्रों और कौंसिल का संविधान पृथक था, परन्तु कार्य लगभग समान थे। केन्द्रों को व्यक्तिगत व्यापार का आदेश देने के विस्तृत अधिकार थे, जैसे कच्चा माल बांटना, मूल्य निश्चित करना, एकीकरण करना और कौंसिल की स्वीकृति से फर्मों का राष्ट्रीयकरण करना।

पूंजीवाद से समाजवाद के इस बीच के समय यह समझा गया कि अन्त में दोनों मिल जायेंगे। दो कारणों से राष्ट्रीयकरण की प्रगति तीव्र हो गई।

(१) प्रथम तो यह कि अपने नये उत्साह के कारण श्रमिक समितियां अपने अधिकारों से भी आगे बढ़ गई। इन्होंने अवैधानिक रूप में कई फर्मों का राष्ट्रीयकरण कर लिया। केन्द्रों के अधिकारी इस कार्य को रोकने में समर्थ न हो सके। कौंसिल के आदेशों की भी अवज्ञा की गई और इस प्रकार केन्द्र स्थानीय अधिकारियों को नियंत्रित करने में असफल रहा।

(२) दूसरे, १९१८ के ग्रीष्मकाल में रूस में गृहयुद्ध आरम्भ हुआ, जिसके कारण कई मिल मालिक अपनी मिलों का अधिकार जर्मनों के हाथ बेचने लगे। ऐसी स्थिति में सरकार के पास इन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के सिवा कोई उपाय न रहा।

२८ जून १९१८ को सामान्य राष्ट्रीयकरण (General Nationalisation) का आदेश घोषित किया गया जिसके अन्तर्गत सब बड़े उद्योग सरकारी अधिकार में आ गये। राष्ट्रीयकरण का कार्य इतनी शीघ्रता से हुआ कि १९१९ के आरम्भ तक लगभग ३०००-४००० फर्मों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया। इस प्रकार युद्ध के कारणों से सरकार को विवश होकर साम्यवाद अपनाना पड़ा। उसका नाम समाजवादी गणतन्त्र सोवियत संघ (Union of Soviet Socialist Republics U. S. S. R) पड़ गया।

प्रत्येक वस्तु के अभाव के कारण आर्थिक स्थिति अव्यवस्थित हो गई। सब ओर अकाल फैल रहा था। उद्योग को कपास, कोयला, लोहा और यातायात की कमी के कारण हानि उठानी पड़ रही थी। गृहयुद्ध के कारण सोवियत सरकार को रेल्वे लाइनों, इंजिन, डिब्बों, कारखानों और पुलों की हानि हुई। श्रमिकों की क्षमता और उत्पादनशक्ति दुर्भिक्ष के कारण घट रही थी। लोग शहरों से देहातों को प्रस्थान करने लगे।

बजट की असंतुलित स्थिति के कारण सरकार को मुद्रा स्फीति का आश्रय लेना पड़ा। परन्तु सरकार केवल नोट छापकर ही आवश्यक साधन नहीं प्राप्त कर सकती थी। अतः केन्द्रीय संग्रहण और वितरण पूर्ति विभाग के अन्तर्गत व्यवस्थित किया गया। परन्तु यह उपाय भी दोषपूर्ण था। परिणाम यह हुआ कि लोग संग्रह करने लगे।

जून १९१८ को इस पद्धति को दृढ़ करने के लिए Committees of Village Poor स्थापित की गई। इन समितियों का मध्यम श्रेणी वाले किसानों द्वारा विरोध किया

गया। अत १९१८ के अन्त में इन समितियों को समाप्त कर दिया गया। इस बीच राष्ट्रीयकरण का कार्य चालू रहा और अब इसके अन्तर्गत बहुत छोटे छोटे कारखाने भी आ गये। नवम्बर १९१८ में व्यक्तिगत आन्तरिक व्यापार का निषेध कर दिया गया। सन् १९१९ में सहकारी संस्थाओं की स्वतन्त्रता भी समाप्त कर दी गई।

औद्योगिक संस्थाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया गया :—

(१) बड़े पैमाने के राष्ट्रीकृत के उद्योग, जो सुप्रीम इकोनोमिक कौंसिल के विभिन्न विभागों के अन्तर्गत थे।

(२) मध्यम औद्योगिक संस्थाएं, जो प्रान्तीय आर्थिक परिषदों के अन्तर्गत रखी गई, यद्यपि S E C का उन पर नियन्त्रण था।

(३) स्थानीय लघु औद्योगिक संस्थाएं प्रान्तीय आर्थिक परिषद् के अन्तर्गत।

परन्तु इस अत्यधिक केन्द्रीय प्रबन्ध को क्रियान्वित करना बहुत कठिन था। इसके कारण देश में बड़ी आर्थिक गड़बड़ मची। महत्वपूर्ण निर्णय लेने में देरी होने लगी। इस स्थिति को सुधारने के लिए शाक सिस्टम (Shock System) आरम्भ किया गया, जिसके अन्तर्गत महत्वपूर्ण उद्योगों को कच्चा माल, ईंधन आदि देने में प्राथमिकता की प्रथा अपनाई गई।

इस प्रथा के कारण दूसरे उद्योगों को हानि उठानी पड़ी। प्रत्येक उद्योग अपने को प्राथमिकता की सूची में सम्मिलित कराने को प्रयत्नशील था। इसके साथ साथ कुशल प्रशासन और राजनैतिक सहानुभूति के अभाव में स्थिति और भी खराब हो गई। देहातों में किसानों का और नगरों में श्रमिकों का असंतोष बढ़ता ही गया।

क्रान्ति का प्रभाव १९२१ के आरम्भ तक चलता रहा। इस समय लेनिन ने आश्चर्य जनक क्षमता का परिचय दिया। अक्टूबर १९१७ के बाद देश की वित्त व्यवस्था बराबर गिरती गई। जर्मनी से सन्धि होने के बाद जब व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया तो उद्योगपतियों का विश्वास नयी सरकार में कम गया। नई सरकार ने देशी-विदेशी ऋण सब रद्द कर दिए और देश को शेष संसार से पृथक् कर लौहद्वार (Iron-Curtain) में बन्द कर दिया।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रूसी क्रान्ति की अव्यवस्था एवं अस्थिरता आर्थिक क्षेत्र में इतनी अधिक रही कि क्रांति के कई वर्षों तक रूस में कम उत्पादन, बेकारी एवं मूल्य वृद्धि की समस्याएं स्थित रहीं। लेनिन ने इस स्थिति को समझते हुए नई आर्थिक नीति (New Economic Policy—N E P) की घोषणा कर दी। इस नीति को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की तृतीय विश्व कांग्रेस ने १९२१ में रूस के लिए उपयुक्त मान लिया।

प्रश्न

1. Give a short account of the economic conditions Prevailing in Russia befor the Revolution
2. Discuss the main features of the Russian Revolution of 1917 and what were its after effects ?

नवीन आर्थिक नीति

गृहयुद्ध के बाद देश की आर्थिक स्थिति अत्यन्त चिन्ताजनक हो गई। औद्योगिक उत्पादन तथा कृषि-उपज बहुत कम हो गई। मजदूरों की संख्या में तथा वास्तविक मजदूरी की दरों में कमी हो गई। यातायात युद्ध के कार्य में व्यस्त रहने के कारण छिन्न-भिन्न हो गया था। १९२१ के अकाल ने स्थिति को और भी बदतर कर दिया। अतः आर्थिक उत्थान के अतिरिक्त रक्षा का कोई अन्य उपाय न था। ९ अगस्त १९२१ के एक आदेश के द्वारा नई आर्थिक नीति को लागू कर दिया गया।

नई आर्थिक नीति की विशेषताएँ (Main features)

(१) औद्योगिक संस्थाओं को कच्चे माल और निर्मित माल के सम्बन्ध में स्वतंत्रता दे दी गई। परन्तु फिर भी कुछ ऐसे उद्योग थे, जैसे कि ईंधन, धातु आदि जिनको राज्य की पूर्ति पर निर्भर रहना पड़ता था। ऐसे उद्योगों की संख्या बहुत कम कर दी गई। इन उद्योगों का प्रबन्ध S. E. C. के १६ विभाग करने लगे।

(२) उद्योगों को ट्रस्ट (Trust) और सिंडिकेट (Syndicate) में विभाजित कर दिया गया। १० अप्रेल १९२३ के आदेश के अनुसार ट्रस्ट को वैधानिकता प्रदान की गई। ट्रस्ट का प्रबन्ध S. E. C. के द्वारा नियुक्त बोर्ड के द्वारा होता था, जो फैक्टरी मैनेजर को नियुक्त करता था। मैनेजर आन्तरिक प्रबन्ध को देखते थे तथा क्रय-विक्रय सिंडिकेट द्वारा होता था।

(३) फैक्टरियों और खानों को चलाने के लिए रूसी और विदेशी पूँजीपतियों को सुविधाएं दी गई। State Bank फिर से खोला गया और धन जमा कराने तथा ऋण देने की व्यवस्था की गई।

(४) सहकारी और व्यक्तिगत स्टोर्स को आर्थिक और व्यापारिक स्वतन्त्रता दी गई।

(५) किसानों को अपनी उपज को खुले बाजार में बेचने की आज्ञा मिल गई। वे अतिरिक्त उपज को अपने पास टैक्स देकर जमा रख सकते थे।

(६) श्रमिकों को मजदूरी नकद मिलने तथा Overtime का भत्ता देने का आदेश दिया गया।

(७) प्रत्येक राजकीय औद्योगिक संस्था को वार्षिक चिट्ठा तथा लाभ-हानि का खाता बनाकर प्रकाशित करना आवश्यक कर दिया गया।

(८) गृह समितियों का निर्माण हुआ और किराया व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और आय को देखते हुए निर्धारित किये जाने का आदेश हुआ।

N E P के परिणाम

(१) नई नीति के कारण देश में विदेशी पूँजी का आयात हुआ, विदेशी व्यापार बढ़ा और सन १९२२-२३ में निर्यात दुगुना हो गया। विदेशी पूँजी का आयात

(२) रूसी मुद्रा (रूबल) का अवमूल्यन समाप्त हुआ और वह एक सुदृढ़ स्तर पर आधारित हो गई

(३) कृषि का विकास हुआ और कृषकों की माग निर्मित वस्तु के लिये बढ़ने लगी।

(४) उद्योगों को कच्चा माल मिलने लगा और बड़े स्तर पर उत्पादन होने लगा। विशेषज्ञ उद्योग का पुनर्गठन करने के लिये जुट गए और बहुत से उद्योगों की यांत्रिक क्रियाओं में सुधार किया गया। परिणामस्वरूप उत्पादन बढ़ गया। रेस्टोरेंट होटल खोले गये और नगरों की शोभा बढ़ गई। उत्पादन में वृद्धि

मुद्रा (५) कृषकों की दुदशा और बढ़ गई। सन् १९२३ में कृषि पदार्थों के मूल्य ६०% गिर गये। दूसरी ओर औद्योगिक संस्थाओं (Trusts) ने लाभ दिलाने के हेतु निर्मित वस्तुओं के मूल्य ८०% बढ़ा दिये। इस कारण कृषकों ने अनाज बेचना और निर्मित माल खरीदना बन्द कर दिया। गोदाम माल से भर गये और औद्योगिक अवनति आरम्भ हो गई।

(६) ऐसी स्थिति में माल लागत से भी कम मूल्य पर बेचा जाने लगा और कृषि-पदार्थों के मूल्य बढ़ गए। परन्तु फिर भी स्थिति पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं हो सका।

(७) व्यक्तिगत व्यापारी और छोटे निर्माताओं की शक्ति बढ़ गई और इन्होंने अधिक धन संग्रह कर लिया। इनकी बढ़ती हुई सम्पन्नता रोकने के लिए भारी कर और प्रतिबंध लगाये गए।

नई नीति के आलोचकों ने कहा कि यह नीति देश को साम्यवाद से पूँजीवाद की ओर ले जाने वाली है। परन्तु वास्तव में इस नीति में दोनों वादों की विशेषताएं थीं। सब बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना साम्यवाद का द्योतक था। कृषि व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए छोड़ दी गई थी। कृषि और उद्योग का संबंध मार्केट से था और यह पूँजीवाद का प्रतीक था। लेनिन ने इस नीति को सामाजिक अर्थव्यवस्था को स्थापित करने की प्रारंभिक सीढ़ी बताया।

इस नीति द्वारा रूस का आर्थिक विकास बड़ा कष्टकर हुआ। सर्वत्र कच्चे लोहे तथा ईंधन की कमी हो गई। कच्चे लोहे के यूराल में पाये जाने से कुछ कठिनाई कम हुई। सन् १९२१ के दुर्भिक्ष के कारण स्थिति और बिगड़ गई थी। विदेशी आर्थिक सहायता के अभाव में देश को स्वयं के साधनों पर पुनर्निर्माण करना पड़ा।

सर्वप्रथम ईंधन की कमी को दूर करना आवश्यक था। वेतन देने की नई प्रणाली अपना ली गई, जिससे वेतन दर उत्पादन से सम्बन्धित कर दी गई। खान के श्रमिकों को भोजन वितरित किया जाने लगा। यातायात के साधनों में सुधार किया जाने लगा और खाद्य स्थिति को सुधारने के प्रयत्न हुए। परन्तु फिर भी कच्चे माल का सर्वत्र अभाव था।

ट्रस्ट अपना निर्मित माल कच्चे माल के बदले में बेचने लगे। कच्चे माल के मूल्य बढ़ गए और निर्मित माल के मूल्य कम हो गए। इस समस्या के लिए उत्पादन कम करने और अतिरिक्त उत्पादन के निर्यात तथा ट्रस्ट की पूंजी बढ़ाने के सुझाव दिये गए। कुछ समय बाद फसलों के अच्छी होने से स्थिति में सुधार हुआ।

कृषि उत्पादन के बढ़ने तथा औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से सन् १६२३ से स्थिति उद्योगों के पक्ष में हो गई। इस समय कच्चे माल की माग बढ़ जाने से कमी हो गई। किसानों की क्रय शक्ति के ह्रास के कारण निर्मित माल का विक्रय कम होता था। मुख्य समस्या लागत व्यय में कमी करने तथा कृषि वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करने की थी। परन्तु समस्या का हल नहीं हो सका। समस्या के हल न होने का मुख्य कारण राज्य उद्योग का एकाधिकार था। सरकार ने इस एकाधिकार को कम करने के लिए निम्न प्रयत्न किये—

(१) बैंक द्वारा ट्रस्ट को सीमित ऋण देना।

(२) आन्तरिक व्यापार समिति द्वारा अधिकतम मूल्य निर्धारित करना।

(३) कुछ वस्तुओं के मूल्य कम करने के लिए विदेशी सस्ती वस्तुओं का आयात करना।

इन प्रयत्नों से उद्योगों को लागत व्यय में कमी करनी पड़ी। १६२३ में ट्रस्ट के पुनर्गठन के लिए एक कमीशन नियुक्त हुआ। कृषि पदार्थों के मूल्य बढ़ाने के लिए निर्यात बढ़ाने और क्रय संस्थाओं को आर्थिक सुविधाएं देने के प्रयत्न किये गए।

सन् १६२५–२६ से रूस में पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ और औद्योगीकरण को महत्व दिया गया। दिसम्बर १६२५ में १४वीं पार्टी कान्फ्रेंस में स्तालिन की रिपोर्ट पेश की गई जिसमें भारी उद्योगों को प्रारम्भिक महत्ता देने पर जोर दिया गया, जिससे रूस मशीन आयात करने वाले देश की अपेक्षा मशीन निर्माण करने वाला देश बन जाय।

यह निर्विवाद है कि नई नीति के परिणामस्वरूप प्रगति अवश्य हुई और यह एक आदर्श नीति थी। परन्तु इसके कारण उद्योगपतियों में राष्ट्रीयकरण और हस्तक्षेप का भय बराबर बना रहा। ऐसी स्थिति में निजी उद्योग को प्रोत्साहन नहीं मिल सकता था।

प्रश्न

1. Give a short account of the background of N. E. P.
2. What were the main features of N. E. P.? Briefly describe its consequences

अध्याय ५.

कृषि विकास

प्राचीन काल में रूस की आर्थिक व्यवस्था कृषि पर ही निर्भर थी। गेहूं, जौ, राई और अलसी को मुख्य रूप से पैदावार की जाती थी। कम जनसंख्या और विस्तृत क्षेत्र होने के कारण विस्तृत कृषि (Extensive Cultivation) की प्रथा थी। कृषि संगठन और विकास विदेशी आक्रमणों, युद्ध और अराजकता के कारण समय समय पर बदलता रहा। उस समय सामाजिक वर्ग शोषण और व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय नहीं हुआ था।

रूसी कृषि की सबसे बड़ी विशेषता सामुदायिक भूमिस्वामित्व १५वीं सदी से दृष्टिगोचर होती है, इस ही समय दास प्रथा आरम्भ हुई। १६वीं सदी में मुद्रा प्रयोग के कारण श्रमिक खेत छोड़ कर लाभपूर्ण धन्धों में जाने लगे। छोटे और मध्यम किसान वर्ग का प्रभुत्व अर्थ व्यवस्था में बढ़ा। १७वीं शताब्दी में देश में भारी उथल-पुथल तथा विप्लवों के कारण कृषि की दशा बिगड़ती गई और किसानों की स्वतन्त्रता प्राय समाप्त हो गई। १८वीं शताब्दी में नई दिशा की ओर प्रगति के प्रयत्न किए गए। औद्योगिक विकास ने कृषि को प्रभावित किया और सम्पन्न किसानों ने लाभ की दृष्टि से अनाज व्यापारियों के हाथ बेचना शुरू किया, जो निर्यात कर दिया जाता था।

१६वीं शताब्दी में कृषि उत्पादन की कमी एक समस्या बन गया। अनाज के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हुई तथा सर्वत्र अकाल की स्थिति बनी रही। कृषि की यह अवनति दास प्रथा, पुराने खेती के ढंग, तीन खेत प्रणाली, पशुपालन की अवहेलना और खाद के अभाव के कारण हुई।

रूस की कृषि के संबंध में एक स्वतन्त्र व सुनिश्चित नीति कभी न हो सकी। यूरोप के कृषि के उन्नत तरीकों से किसान १६वीं सदी तक अनभिज्ञ रहे। राजनैतिक संगठन वहां बहुत देर से हुआ, अत कृषि संबंधी नीति की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। कर वसूली में सेना के प्रयोग होने के कारण किसान अपनी भूमि छोड़ छोड़कर भाग गए, जिससे अव्यवस्था पैदा हो गई। उस समय कर वसूली कृषि नीति का मूलाधार था।

रूसी कृषि का उत्पादन संगठन मीर अथवा ओबशीना था। खेतों पर परिवार सहित कार्य किया जाता था। १६वीं सदी में मीर पर कर वसूली का उत्तरदायित्व भी डाल दिया। गांव, जिसे मीर कहते थे, आत्मनिर्भर तथा स्वशासित थे। सामुदायिक कृषि पद्धति रूसी कृषि की विशेषता रही है। १८६१ के दास मुक्ति अधिनियम के कारण मीर रूसी कृषकों का एकमात्र संगठन बन गया, परन्तु आधुनिक मुद्रा प्रणाली तथा विनिमय ने इसकी स्थिति कमजोर कर दी २०वीं सदी के आरम्भ में यह नष्टप्राय हो गया।

१८६१ से रूसी क्रांति १६१७ तक की कृषि की स्थिति का अध्ययन हम दूसरे अध्याय में कर आए हैं। यहां हम संक्षिप्त रूप में रूसी क्रांति के पश्चात् के कृषि विकास पर दृष्टिपात करेंगे।

क्रांति के पश्चात् पूर्ण भूस्वामित्व के स्थान पर किसानों की भूमि और सम्पूर्ण सम्पत्ति सामाजिक सम्पत्ति घोषित कर दी गई। अब सोवियत राज्य किसानों का स्वामी हो गया। किसानों को बड़े सहकारी तथा सामुदायिक संगठनों में बांधा गया और समाजवाद के सिद्धांतों से अवगत कराया जाने लगा। दूसरी ओर किसानों के अधिकतम सहयोग से औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया गया।

सहकारिता कृषि के तीन रूप अपनाये गए ' १ तोज (Toz) अथवा संयुक्त खेती जिसके अन्तर्गत किसान मिलकर कृषि करते थे परन्तु प्रत्येक का भूमि पर स्वामित्व बना रहता था और उपज बांट ली जाती थी। (२) आरटेल (Artel) सामूहिक रूप से खेतों पर काम किया जाता है और उत्पादन को आय सदस्यों में बांट ली जाती है। इस प्रकार सदस्यों को निजी भूमि और सामुदायिक क्षेत्र दोनों से आय प्राप्त हो जाती थी। (३) कम्यून (Commune) इसमें सदस्य सामुदायिक रूप से काम ही नहीं करते, परन्तु वे सामुदायिक रूप से रहते भी हैं। उत्पादन के साधन और सम्पत्ति कम्यून की होती है। सामुदायिक रूप से उनके जीवन की प्रत्येक क्रिया होती है।

आजकल तोज और कम्यून तो समाप्तप्राय हो गए हैं और आरटेल रह गए हैं, जिन्हें कोलखोज पुकारा जाता है। इसकी रूपरेखा १६३५ में निर्धारित की गई। इसके अनुसार सारी भूमि सोवियत राज्य की है और सामुदायिक आय को श्रम के अनुसार बांटने का प्रबन्ध किया गया। उत्पादन के साधन कोलखोज (Kolkhoz) के अधीन रहते है, परन्तु निवासस्थान पशु-पक्षी और औजार निजी स्वामित्व में हैं। फार्म का काम सभी सदस्यों को करना पड़ता है। कोलखोज शासन की ओर से कार्य का प्रमाप तथा वेतन निश्चित किया जाता है। विशेष योग्य व परिश्रमी सदस्य को भत्ता मिलता है। प्रतिदिन का वेतन इस बात पर निर्भर करता है कि उस दिन किस वर्ग का काम किया गया। इस प्रकार कार्य के विभिन्न वर्गों के अनुसार पारिश्रमिक की मात्रा नापी जाती है।

कोलखोज का प्रबन्ध प्रजातंत्रात्मक तरीके से होता है। राज्य कोलखोज का केवल पथ प्रदर्शन करता है। सन् १६४६ में केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के अधीन कोलखोज समिति का निर्माण किया गया, जिसका उद्देश्य संगठन प्रबन्ध और कार्यक्रम में सन्तुलन उत्पन्न करना है। १६५० की एक नई योजना द्वारा कोलखोज की संख्या में कमी करने का निश्चय किया गया जिससे बड़े पैमाने पर उत्पादन हो सके। ५

राजकीय कृषि फार्मों सोवखोज (Sovkhoz) के संगठन तथा विस्तार में राज्य ने पूरी सहायता दी। इनके द्वारा आधुनिक कृषि प्रणाली और सामुदायिक संगठन के लाभ प्रदर्शित

किए गए। इन फार्मों की प्रगति बहुत तीव्र रही इनका अधिक यन्त्रीकरण भी किया गया है। इसका काम करने का तरीका राजकीय कारखानों के समान है। इसका प्रबन्ध राज्य से नियुक्त अधिकारी करते हैं।

कृषि विकास के लिए आधुनिक यान्त्रिक सहायता केन्द्रीय रूप से दी जाती है। मशीन-ट्रैक्टर स्टेशन सामुदायिक फार्मों को विभिन्न प्रकार की सहायता उपलब्ध करता है।

स्तालिन की मृत्यु के बाद रूस में महान् परिवर्तन हुए, जिनका कृषि पर विशेष प्रभाव पड़ा। यह आशा की जाती है कि १६६५ तक कृषि संगठन और प्रबन्ध में बहुत से परिवर्तन हो जायेंगे।

प्रश्न

1. Give the salient features of Russian Agriculture before the Revolution.

2. What changes were introduced in Agricultural policy after the Russian Revolution.

अध्याय ६

औद्योगिक स्थिति

रूस के औद्योगिक विकास का संगठन किसी एक निर्दिष्ट पथ पर नहीं चला। कारखानों की स्थापना तथा वस्तु उत्पादन पर राजनैतिक स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ा। १७वीं सदी तक राजनैतिक अस्थिरता के कारण रूसी शहरों में औद्योगिक वर्ग का भी जन्म न हुआ था, जबकि यूरोप में कारीगर संघ बन चुके थे। आत्मनिर्भर ग्राम संगठन था और निर्मित वस्तुओं की मांग बहुत कम थी। सर्वप्रथम लोहा और नमक उद्योग आरम्भ किया गया और बाद में खान, पोटाश और धातु निर्माण भी आरम्भ किये गये। राजकीय संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त होने पर भी दास प्रथा के कारण रूस का औद्योगिक विकास उचित रूप में न हो सका।

पीटर के समय में औद्योगिक प्रगति में परिवर्तन हुआ। बड़ी मात्रा में वस्तु निर्माण हुआ। १९वीं सदी के मध्य में पूंजीवादी कारखाना पद्धति आरम्भ हुई। सेना और सुरक्षा की स्थिति सुधारने के लिए मिल और कारखाने बनने शुरू हुए। इस समय उत्पादन कार्य लगभग राज्य के द्वारा ही किया जाता था।

आधुनिक उत्पादन की नींव १९वीं सदी के प्रथम २० वर्षों में पड़ी। इस काल में नई औद्योगिक प्रणाली रूस के भिन्न भिन्न उद्योगों में अपनाई गई। दास उत्पादन की प्रथा, पिछड़ा समाज और मांग की कमी जैसी कठिनाइयों के होते हुए भी कुछ उद्योग तो उन्नति कर गये। १८२४ में बाहर व्यापारिक मंडी की स्थापना शुरू हुई। इस प्रकार औद्योगिक विकास को सहारा मिला। १८५५ तक मशीनों का उपयोग बहुत अधिक होने लगा, जिससे हाथ से काम करने वाले कारीगरों की महत्ता कम होने लगी। राजकीय प्रोत्साहन तथा संचालन की सहायता से व्यापारवादी सिद्धान्त पर औद्योगिक उन्नति करना इस समय की मुख्य नीति रही।

१८६१ से १९१७ तक की औद्योगिक स्थिति का अध्ययन हम पहले ही दूसरे अध्याय में कर आये हैं।

क्रान्ति के बाद प्रथम महायुद्ध के कारण रूसी औद्योगिक स्थिति असहाय होकर छिन्नभिन्न हो गई। युद्धकाल में औद्योगिक प्रगति के सतत प्रयत्न सरकार की ओर से किये गये। क्रान्ति के तुरन्त बाद ही उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया गया। कारखाना प्रबन्ध के लिये श्रमिक समितियां बनाई गईं। २८ जून १९१८ को सभी बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। २९ दिसम्बर १९१८ को लघु उद्योगों को भी सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार अर्थ व्यवस्था का प्रबन्धभार Supreme Economic Council के अधीन कर दिया गया।

श्रम की कमी तथा गृहयुद्ध के कारण तथा विदेशी मशीन, रसायन तथा विशेषज्ञों के अभाव में उद्योगों की शक्ति क्षीण हो गई। १९२१ में निर्धारित नई आर्थिक नीति N.E.P. के द्वारा ट्रस्ट सिंडिकेट बनाकर तथा उनका प्रबन्ध S.E.C. के अधीन कर औद्योगिक उन्नति के प्रयत्न किये गये। इन प्रयत्नों से १९२७ से उत्पादन बढ़ने लगा।

रूस में औद्योगिक व्यवस्था के २ भाग हैं—राजकीय एवं सहकारी सहकारी क्षेत्र एक अस्थायी व्यवस्था है और सरकार इस ओर प्रयत्नशील है कि सारी अर्थ व्यवस्था राजकीय क्षेत्र में सम्मिलित हो जाय।

सन १९२९ में प्रबन्धक को कारखाने के प्रबन्ध में अधिक अधिकार और स्वतन्त्रता मिली। १९३४ में उत्पादन का क्षेत्रीय सचालन होने लगा। एक क्षेत्र के एक वस्तु के उत्पादन में लगे सारे कारखानों का प्रबन्ध केन्द्रीय औद्योगिक प्रबन्ध समिति को दे दिया गया। प्रत्येक मैनेजर को अपने उत्पादन का लक्ष्य पूरा करने का आदेश था। उत्पादन प्रणाली, मशीन, मजदूरों की भर्ती और अन्य आन्तरिक प्रबन्ध के मामले भी यह समिति निश्चित करती थी।

प्रत्येक कारखाना एक स्वतन्त्र आर्थिक इकाई है और बचत बढ़ाना तथा लागत को कम करना कुशल प्रबन्ध समझा जाता है—सक्षेप में कम व्यय पर अधिक उत्पादन सफलता की कसौटी माना जाता है। इस प्रकार प्रत्येक कारखाने को प्रति व्यक्ति अधिक उत्पादन के लिये प्रयत्नशील होने की प्रेरणा मिलती है। अधिक उत्पादन के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के लिये एक पृथक संगठन है। इसके साथ ही कारखाना सुधार केन्द्र भी है जहां पूंजीवादी प्रवृत्तियों से मजदूरों को दूर रखने के प्रयत्न किये जाते हैं।

मैनेजर और इन्जिनियर को अधिक प्रोत्साहन तथा प्रतिष्ठा देने के लिये साम्यवादी दल में मिला लिया गया। प्रबन्धक के अतिरिक्त कारखाने में समाजवादी दल समिति और श्रमिक सघ समिति का भी निर्माण हुआ। कारखाने का हर एक विभाग उपविभागों में बाटा जाता है, जिसका अध्यक्ष अथवा फोरमैन उत्पादनशृंखला का अन्तिम नायक होता है।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि रूस के औद्योगिक संगठन की ऐसी प्रणाली है कि प्रत्येक व्यक्ति अधिकतम उत्पादन करके लक्ष्यों से भी आगे बढ़ने को उत्साहित हो। मजदूरों की योजना-लक्ष्य की पूर्ति, सामूहिक समझौते, श्रम कल्याणकारी कार्य, सांस्कृतिक तथा मनोरंजक कार्यक्रम का आयोजन श्रमिक सघ के मुख्य कार्य हैं।

श्रम सघ और प्रबन्ध में समझौता ३ प्रकार से होता है—(१) देश में प्रचलित योजना का सिद्धान्त, (२) श्रमिक अधिनियम और (३) आदर्श सामूहिक समझौता, जिसकी रूपरेखा उच्च अधिकारी निर्धारित करते हैं। सामान्यतः इस प्रकार के समझौते को ही माना जाता है, क्योंकि न मानना अनुशासनहीनता का प्रमाण माना जाता है।

श्रम सघ के प्रतिनिधि विभिन्न समितियों तथा आयोग में भाग लेते हैं। सघों का

कार्य श्रम कल्याणकारी क्रियाओं तक ही सीमित रह गया है और महत्वपूर्ण विषय उच्च राजकीय स्तर पर निश्चित किये जाते हैं।

सैद्धान्तिक रूप से सरकार एक मजदूर सरकार है, यह सरकार ही जब मजदूरों के लिये वेतन, कार्य के घन्टे तथा कल्याणकारी कार्यों की व्यवस्था चलाती है तो मजदूरों में असंतोष होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। १९४९ में श्रम संघ नियम द्वारा यह मान लिया गया कि प्रत्येक श्रमिक राज्य के आदेशों का सहर्ष स्वीकार करने के लिये बाध्य है। इस प्रकार रूस में औद्योगिक संघर्ष और हड़ताल तथा तालेबन्दी का कोई स्थान नहीं है। परन्तु फिर भी इन झगड़ों को तय करने के लिये एक विशेष संस्था है, जिसको R.K.K कहते हैं। इसके निर्णय दोनों पक्षों को मान्य न होने पर अन्त में अदालत के फैसले पर निर्भर रहना पड़ता है। यह संस्था विधान द्वारा सञ्चालित विषयों का निर्णय के लिये नहीं ले सकती। इसके क्षेत्र के अन्तर्गत काम का विभाजन, अतिरिक्त कार्य, छुट्टी आदि छोटे छोटे मामले ही आते हैं। परन्तु इस संस्था का महत्व अब कम होता जा रहा है।

प्रश्न

1. Give a short account of Industrial Organisation in Russia before & after the Revolution.
2. Examine the functions of Trade Unions & discuss the position of the workers in the present Russian economic system.
3. Do disputes between workers and management occur in Russia ! How are they settled !



रूसी योजनाएं और उनसे शिक्षा

रूसी एक पिछड़ा हुआ कृषिप्रधान देश था जिसने औद्योगिक विकास करने तथा शक्तिशाली बनने के लिये एक नया मार्ग अपनाया, जिसे 'राष्ट्रीय योजना' कहते हैं। इसके द्वारा राष्ट्र के सभी अंगों का सयोजित विकास करने का लक्ष्य था। इस प्रणाली को अपना कर इस देश ने जो आश्चर्यजनक प्रगति की उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि रूसी ढंग की योजना एक दिन अविकसित देशों के लिये आदर्श बन जायगी। यहाँ हम रूसी योजनाओं पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे और देखेंगे कि उनसे क्या शिक्षा मिलती है।

गोयलरो योजना (Goelro Plan)

रूस में लेनिन ने योजना की नींव डाली। लेनिन के अनुसार देश के विकास के लिये विद्युतीकरण आवश्यक था, इसलिये ही राजकीय विद्युतीकरण आयोग की स्थापना मार्च १९२० में की गई, इसे गोयलरो भी कहते हैं। इसका उद्देश्य १० से १५ वर्षों के बीच सारे देश में विद्युत् शक्ति पहुँचाना था। क्रान्ति के पूर्व रूस के उद्योगों में बिजली का प्रयोग बहुत कम होता था। सन् १९३० तक कठिनाइयों के होते हुए भी इस योजना ने लगभग अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली। १९३५ में इस योजना को पूर्ण सफलता मिली। औद्योगिक उत्पादन तथा विद्युत् उत्पादन इस समय १९१३ की अपेक्षा क्रमशः ५.७ गुना और १४.५ गुना बढ़ गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना [१९२८ से १९३२]

१९२८ में औद्योगीकरण की प्रगति बढ़ाने के लिये रूस में एक योजना की रूपरेखा तैयार की गई। इस योजना का प्रारम्भिक कार्य राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था का, जो युद्ध और क्रान्ति के कारण जर्जरित हो गई थी, औद्योगीकरण द्वारा पुनर्निर्माण करना था। इस योजना में लगभग प्रत्येक सामाजिक और आर्थिक अंगों के सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया था। इस योजना में निम्न कार्यों को सम्मिलित किया गया.—

(१) बिजली उत्पादन और वितरण, (२) भारी और हल्के उद्योग, (३) कृषि, (४) यातायात, (५) डाक, तार व टेलिफोन, (६) उपभोक्ता की सहकारी संस्थाएं (७) श्रम, (८) शिक्षा (९) वैज्ञानिक अनुसन्धान, (१०) स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा, (११) गृह व्यवस्था और (१२) वित्त व्यवस्था।

इस प्रकार यह योजना केवल औद्योगिक उत्थान के लिये ही नहीं, परन्तु रूसी जीवन की शिक्षा और संस्कृति के विकास के लिये भी थी। इसने अशिक्षा के विरुद्ध युद्ध, अनिवार्य स्कूल शिक्षा और स्कूलों के निर्माण के प्रस्ताव रखे। इसके अन्तर्गत स्वास्थ्यवर्धक

श्रमिकों के लिये आरामगृह, शारीरिक शिक्षा, मनोरञ्जन के टूर आदि सामाजिक कल्याणकारी कार्यों के करने के प्रस्ताव थे।

जो लक्ष्य इस योजना में निर्धारित किये गये, वे देश के विभिन्न क्षेत्रों, स्थानों, ट्रस्ट, फैक्टरियों आदि के लिये थे।

इस योजना की बड़ी बड़ी बातें साम्यवादी पार्टी और सरकार ने निर्धारित कीं। योजना बनाने में सरकार की समाजवादी समाज की स्थापना करने की नीति को अपनाया गया, जिससे उत्पादन के साधनों का अधिकतम विकास हो और श्रमिकों की दशा में क्रमबद्ध सुधार हो सके। अन्तिम योजना घोषित करने के पूर्व योजना की रूपरेखा के बारे में सरकार के विभिन्न विभागों, ट्रस्टों, श्रमिक व वैज्ञानिक संस्थाओं के विचार उपलब्ध कर लिये थे। योजना की यह विशेषता रही है कि लक्ष्य के निर्धारित होने के बाद भी, उसे लागू करते समय फिर से संशोधन किया जाता था।

औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि करना रूसी योजना की विशेषता है। श्रमिकों को उत्पादन बढ़ाने के लिए उत्साहित करने को वेतन बढ़ा दिये गए और कुशल श्रमिकों को पुरस्कार देने की घोषणा की गई। पांच वर्षों के लिए २० मिलियन रूबल्स व्यय करने का अनुमान किया गया। यह राशि उस धन के अतिरिक्त थी, जो यातायात, वाणिज्य और राष्ट्रीय आवश्यकताओं में विनियोग की जा चुकी थी। भारी उद्योगों का ≈३१% और हल्के उद्योगों का १४४% उत्पादन बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया। विज्ञान के सबसे आधुनिक यन्त्रों को अपनाया गया।

उत्पादन वृद्धि के साथ साथ लागत व्यय को घटाने को विशेष महत्ता दी गई, परन्तु इससे वस्तुओं की किस्म (Quality) गिर गई। विद्युत् उत्पादन पर बहुत ध्यान दिया गया, इसका उत्पादन पाच गुना बढ़ाने का निश्चय किया गया। ४० बड़े बिजली के कारखाने स्थापित किये गए।

बिजली के बाद मशीन तथा लोहे के उत्पादन को विशेष महत्ता दी गई। धातु, रासायनिक और मशीन उद्योगों में अभूतपूर्व प्रगति हुई। हजारों मील लम्बी नई रेलवे लाइन निर्मित हुई और रेलवे कारखानों में सुधार हुआ। सारे देश में नई फैक्टरियां और बिजली के कारखानों का जाल सा बिछ गया, जिनमें से कुछ विश्व में सबसे बड़े हैं। जहाज और ट्रैक्टर निर्माण में अधिक प्रगति हुई।

परन्तु इन सब परिणामों के लिए रूस को बहुत अधिक व्यय तथा त्याग करना पड़ा। सरकार को मशीनों, इन्जीनियरों और कारीगरों का आयात करने के लिए एक बड़ी राशि व्यय करनी पड़ी।

इस तीव्र औद्योगिक विकास ने १९३० तक बेकारी की समस्या समाप्त कर दी और श्रमिकों की कमी होने लगी। दूसरी ओर कुशल कारीगरों का सर्वत्र अभाव था।

कृषि क्षेत्र में संकीर्ण प्रगति की गई। छोटे छोटे खेतों को बड़ी बड़ी इकाइयों में

सगठित किया गया जिससे कृषि उत्पादन पर राज्य को पूर्ण नियन्त्रण मिल सके। सामुदायिक कृषि की पद्धति अपनाई गई और सामूहिक फार्म (Kolkhoz) स्थापित किये गए। आय का वितरण प्रत्येक के श्रम के अनुसार होने लगा। यद्यपि धनी किसानों (Kulaks) ने विरोध किया, परन्तु उनको कठोरता से दबा दिया गया। सरकार ने सरकारी फार्म सम्बन्धी (Soxhoz) भी खोले, जिसका प्रमुख कार्य कृषि सम्बन्धी प्रयोग एव गवेषणा करना है। इस प्रकार योजना का उद्देश्य कृषि के सामूहिकीकरण द्वारा समाजवाद की प्रगति करना था।

१६२६ की अच्छी फसलों के कारण सामूहिक खेतों का अधिक विस्तार सम्भव हुआ और कृषि उत्पादन में सुधार हुआ। १ फरवरी, १६३० को सरकार के आदेश द्वारा सामूहिक कृषि का अभूतपूर्व विकास हुआ परन्तु फिर भी कुछ पिछड़े हुए क्षेत्रों में सामुदायिक कृषि प्रणाली केवल कागजी योजना ही रही। २ मार्च, १६३० को स्तालिन ने घोषणा की कि सामुदायिक कृषि अनुपयुक्त क्षेत्रों में न लादी जाय। उसने कहा कि पूर्व स्थिति सामूहिक खेतों को सुदृढ बनाया जाय और खेतों का सामूहिकीकरण किसानों की इच्छा से किया जाय।

कुछ वर्षों पश्चात सामूहिक खेतों के श्रमिकों की कार्यकुशलता का ह्रास होने लगा। चारे की कमी और बीमारियों के कारण देश में पशुओं की दशा बिगड़ गई और उनकी सख्या बहुत कम हो गई। पशुओं की कमी, १६३१–३२ की खराब फसलों, सरकार द्वारा निश्चित मूल्य पर भारी मात्रा में अनाज, मास, दूध और दूसरी खाद्य वस्तुओं के खरीदने के कारण १६३३ में देश में भयकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिससे लाखों रूसियों की मृत्यु हुई। इन सबका यह परिणाम निकला कि सरकार को राशनिंग पद्धति अपनानी पड़ी। बाद में औद्योगिक वस्तुए राशनिंग की दुकानों द्वारा वितरित की जाने लगी।

पचवर्षीय योजना ने अपने लक्ष्य ४ वर्षों में ही पूरे कर लिए। मशीनों का उत्पादन दुगुना, विद्युत् उत्पादन २॥ गुना, औद्योगिक उत्पादन ११८% और उपभोक्ता की वस्तुओं का उत्पादन ८७% बढ गया इसके अतिरिक्त कोयले तथा लोहे के उत्पादन में भी वृद्धि हुई।

प्रथम योजना की समीक्षा

योजना की रूपरेखा का अध्ययन करने के बाद यहा यह जानना भी आवश्यक है कि इस योजना की कमियां क्या थी। सर्वप्रथम कारखानों के स्थानीयकरण के बारे में यह कहा जा सकता है कि इनकी स्थापना उपभोक्ता और कच्चे माल की प्राप्ति को ध्यान में न रखकर राजनैतिक दृष्टि से की गई।

दूसरी ओर ऊचे उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित करने के कारण कारखानों की मशीनों की अधिक घिसाई (Depreciation) हुई।

विद्युत उत्पादन पर अधिक बल देने के कारण देश में इतनी विशाल मात्रा में बिजली का उत्पादन हुआ, जितनी उपयोग में लेना सम्भव न हो सका।

भारी उद्योगों पर अत्यधिक जोर देने का परिणाम यह निकला कि मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हो गई, जिससे उपभोक्ता को वस्तुएं मिलना कठिन हो गया।

यातायात के साधनों का महत्व पूरी तरह नहीं समझा गया। अविकसित यातायात को प्रथम योजना की सबसे बड़ी कमजोरी बताया गया।

जबकि उद्योगों की तीव्रगति से प्रगति हो रही थी, श्रमिकों के रहने का उचित प्रबन्ध नहीं किया गया। मकानों का भारी अभाव रहा।

कुछ भी हो प्रथम योजना के लक्ष्यों की सफलता ने योजनाबद्ध कार्य क्रमों को प्रोत्साहन दिया। भविष्य के विकास के लिए योजित अर्थ व्यवस्था को सफलता की कुंजी माना जाने लगा। इस योजनाकाल में रूस एक पिछड़े हुए कृषक देश से कृषक औद्योगिक देश बन गया। प्रथम योजना अनुभव प्राप्त करने तथा प्रशिक्षण का साधन थी। योजना के अन्तर्गत विशाल धनराशि के व्यय करने के सुपरिणाम लम्बे समय के बाद मिलने वाले थे, अतः रूस की जनता ने सारी कठिनाइयों को झेलना स्वीकार किया और योजना की सफलता के लिये प्राणपण से जुट गये। उनके त्याग और परिश्रम का ही फल है कि रूस एक बड़े शक्तिशाली राज्य के रूप में विकसित हुआ।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना [१९३३–१९३७]

प्रथम योजना की सफलता से उत्साहित होकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना को १ जनवरी १९३७ से आरम्भ किया गया। प्रथम योजना ने बहुत सी कमियों के होते हुए भी देश को औद्योगीकरण के मार्ग पर अग्रसर कर दिया। इसके साथ ही सामूहिक कृषि आन्दोलन की भी प्रगति हुई।

द्वितीय योजना की पृष्ठभूमि रक्तरंजित रही—स्टालिन ने राष्ट्रीय शुद्धि के लिए अपने विरोधियों को नष्ट कर दिया।

बदली हुई परिस्थितियों के कारण द्वितीय योजना में जीवनस्तर के सुधार पर अधिक ध्यान दिया गया। औद्योगिक विकास के क्षेत्र में उपभोक्ता की वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक महत्व दिया गया। फरवरी १९३२ में योजना आयोग के अध्यक्ष ने कहा—"द्वितीय योजना-काल में उपभोक्ता की वस्तुओं का उत्पादन दुगुना या तिगुना बढ़ाया जायगा जिससे कि महत्वपूर्ण व्यक्तिगत उपयोग की वस्तुओं के उपभोग का स्तर सोवियत रूस को १९३७ में विश्व [redacted] सबसे अधिक प्रगतिशील राष्ट्र बना दे।"

यह निश्चय किया गया कि औद्योगिक उत्पादन का ⅘ भाग नये उद्योगों द्वारा उपलब्ध किया जाय। इसके लिए यान्त्रिक और श्रम उत्पादन में सुधार, लागत व्यय में कमी और वस्तुओं की किस्म सुधारने पर जोर दिया गया। सन् १९३७ तक उत्पादन ६३% तक बढ़ाया जाय और लागत व्यय २६% तक घटाया जाय। वस्तुओं की किस्म सुधारने के लिये प्रशासन और प्रबन्ध में सुधार किये गये। पुराने वैज्ञानिकों से सहयोग प्राप्त किया जाय।

यद्यपि योजना के आरम्भ होने के पूर्व यह कहा गया था कि उपभोक्ता की वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक महत्व दिया जायगा, परन्तु वास्तव में योजनाकाल के अन्त में पूँजीगत वस्तुओं का ही उत्पादन सबसे अधिक बढ़ा और मुख्यकर विद्युत् शक्ति, मोटर, ट्रैक्टर, वायुयान आदि का। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण युद्ध सामग्री के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान दिया गया। मशीन उद्योग का अत्यधिक विकास हुआ। कच्चे लोहे का उत्पादन १९३७ में १९३२ से दुगुना हो गया तथा इस्पात का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य से अधिक हुआ। तेल के उत्पादन में कमी हुई।

कृषि क्षेत्र में इस योजनाकाल में महत्वपूर्ण कार्य किये गये। किसानों को सामुदायिक कृषि की ओर प्रेरित करने के लिये १९३५ में कृषि आरटेल के आदर्श नियम बनाये गये, जिनसे किसानों को औद्योगिक मजदूरों के समान कठोर अनुशासन में रखा जा सके। इन सब प्रयत्नों का उद्देश्य अधिकतम उत्पादन करना था।

सामुदायिक कृषि के अतिरिक्त व्यक्तिगत छोटे छोटे खेतों को विकसित करने तथा किसानों को गाय, सूअर, मुर्गियां और उद्यानों के लिये उत्साहित किया गया। यह आश्वासन दिया गया कि किसानों को उनके काम और कार्यकुशलता के अनुरूप नियमित रूप से मजदूरी दी जायगी।

योजना में निर्यात पर अधिक महत्व नहीं दिया, जिससे अधिक खाद्य पदार्थ देश में रह सकें। इस कारण अक्टूबर १९३५ से सब प्रकार का राशनिंग हटा दिया गया। विभिन्न प्रकार के स्तर के कार्य और उत्तरदायित्व के लिये विभिन्न मजदूरी की दरों पर जोर दिया गया।

परन्तु इतना सब होने के बाद भी रूस की प्रति व्यक्ति औसत आय दूसरे पश्चिमी देशों की अपेक्षा बहुत कम थी। अतः यह आशा व्यक्त की गई कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में उपभोक्ता की वस्तुओं पर अधिक महत्व दिया जायगा, जिससे भारी उद्योगों की बढ़ी हुई शक्ति का पूर्ण उपयोग हो सके।

तृतीय योजना (१९३८–१९४२)

इस योजना का उद्देश्य वर्गरहित समाज के निर्माण को पूरा करना या तथा समाजवाद से साम्यवाद का क्रमिक परिवर्तन करना था। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण तीसरी योजना राष्ट्रीय सुरक्षा उद्योग को सुदृढ़ करने की ओर सचालित की गई थी। इसके साथ ही श्रमिक वर्गों के भौतिक और सांस्कृतिक विकास के भी विस्तृत कार्यक्रम बनाये गये थे।

इस योजना के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन और सेवाओं के विस्तार, श्रम उत्पादन में वृद्धि लागत व्यय में कमी, और वस्तुओं के किस्म में सुधार करने के प्रस्ताव थे। कृषि उत्पादन ५०% से अधिक बढ़ाना और उद्योगों को कच्चे माल और उपभोक्ताओं के क्षेत्रों के समीप लाना इस योजना का मुख्य उद्देश्य था, जिससे ... की समस्या न रहे और पिछड़े क्षेत्रों का आर्थिक विकास हो सके।

१६३६ में सुरक्षा उद्योगों का उत्पादन सबसे अधिक हुआ। अगले २ वर्षों में सरकार का मुख्य उद्देश्य सुरक्षा उद्योग का अधिकतम उत्पादन अल्पतम समय में करने का था।

१६४१ में रूस पर जर्मनी ने आक्रमण कर दिया, जिससे यह योजना अधूरी ही रह गई। यह योजना लगभग ३॥ वर्ष तक ही चल पाई। इतने कम समय में ही औद्योगिक उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सामुदायिक खेती ने कृषि पर पूर्ण प्रभाव जमा लिया।

युद्धकाल में रूस के आर्थिक साधनों की अत्यन्त क्षति हुई। प्रमुख औद्योगिक और कृषि क्षेत्र जर्मनी के अधिकार में आ गये। यूक्रेन पर जहां कि देश के सम्पूर्ण कोयला, कच्चा लोहा और इस्पात के उत्पादन का आधा भाग उपलब्ध होता था, जर्मनी का अधिकार हो गया। सब मिलाकर रूस को कोयले के उत्पादन का ३/४ भाग, कच्चे लोहे का ६०% और अनाज क्षेत्रों के ५०% भाग की हानि उठानी पड़ी।

जैसे जैसे शत्रु-सेनाएं आगे बढ़ती गईं, वैसे वैसे ही रूस अपने उद्योगों का स्थानान्तरण योजना के पार यूराल पहाड़ों के पीछे और साइबेरिया में करता गया। इस पर्व की ओर स्थानान्तरण का एक परिणाम यह निकला कि यातायात की कठिनाई उत्पन्न हो गई तथा यूराल क्षेत्रों में उद्योगों का केन्द्रीयकरण हो गया। दूसरी ओर उपभोक्ता की वस्तुओं के उत्पादन के अभाव में देशवासियों को अत्यन्त कष्ट हुआ।

इन सब हानियों की पूर्ति करना एक बड़ा कठिन कार्य था। १६४३ में आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये एक विस्तृत योजना बनाई गई। परिणामस्वरूप अगले वर्षों में कुछ सुधार सम्भव हुआ, परन्तु फिर भी द्वितीय महायुद्ध के बाद पहले की उत्पादन शक्ति के एक भाग का ही पुनर्निर्माण किया जा सका।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना [१६४६—१६५०]

पुनर्निर्माण का वास्तव में कार्य १६४५ के पश्चात् आरम्भ हुआ और १६४६ में प्रथम युद्धोत्तर योजना बनाई गई। एक बार फिर भारी उद्योगों को प्राथमिकता दी गई। लौह व इस्पात का ३५%, कोयले का ५१%, बिजली का ७०%, ट्रैक्टर और मोटरों का ३॥ गुना धातु, मशीन-औजार का चार गुना उत्पादन बढ़ाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। योजना ने पुराने पश्चिमी और दक्षिणी–पश्चिमी केन्द्रों के पुनः औद्योगीकरण को महत्व दिया। सन् १६५० तक उद्योगों का उत्पादन ४८% और अधिक उत्पादन २६% तक बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया।

कृषि-क्षेत्र में हुई क्षति की पूर्ति करने हेतु २७% वृद्धि की योजना बनाई गई। इस योजना ने अपने लक्ष्यों की पूर्ति सदा की भांति अपने समय से पूर्व ही कर ली। औद्योगिक उत्पादन ७४% बढ़ गया। ट्रैक्टर और मोटर का उत्पादन १६३७ से दुगुना हो गया। खाद्य पदार्थों के उत्पादन लक्ष्य तक नहीं बढ़ पाया। उपभोक्ता की वस्तुओं जैसे सूती वस्त्र, जूते और दूसरे हल्के उद्योगों का उत्पादन १७% बढ़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि युद्ध ने रूस की आर्थिक व्यवस्था को नष्टप्राय कर दिया था, परन्तु युद्ध के बाद वहाँ अभूतपूर्व प्रगति हुई। रूस के अनुसार वहां औद्योगिक उत्पादन दुगुना बढ़ गया, यद्यपि पश्चिमी निरीक्षकों के अनुसार ३०% ही बढ़ा। फिर भी इतना मानना ही पड़ेगा कि युद्ध के बाद उसकी सीमाएं बढ़ीं और उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई। यह कहा जाता है कि जितनी उन्नति वहां हुई, यह उस ही परिमाण में हुई, जितनी कि पश्चिमी यूरोप के देशों में अमेरिकन आर्थिक सहायता द्वारा सम्भव हुई।

पंचम पंचवर्षीय योजना [१९५०–१९५५]

इस योजना में भी भारी उद्योगों को प्राथमिकता दी गई और इसके साथ ही सुरक्षा को सुदृढ़ करना इस योजना का ध्येय था। औद्योगिक उत्पादन में ७२% वृद्धि करना था, जबकि १९५५ में वास्तविक वृद्धि ८५% की हुई। उपभोक्ता की वस्तुओं का उत्पादन ७६% हुआ, जबकि लक्ष्य ६५% था। विकास की गति पूंजीवादी देशों के विकास से लगभग ५०% अधिक थी।

अत्यधिक विकास इन्जिनियरिंग उद्योगों में हुआ। तेल, कच्चा लोहा और कोयला का उत्पादन भी बढ़ा। बंजर भूमि को ट्रैक्टरों की सहायता से कृषि योग्य बनाया गया, जिससे कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई। पशुपालन में भी सुधार किये गये।

छठी पंचवर्षीय योजना (१९५६–६०)

जनवरी, १९५६ में यह योजना प्रकाशित की गई थी, परन्तु इसमें समय समय पर संशोधन किये गये और अन्त में १९५८ में इसे स्थगित कर दिया गया।

इस योजना का लक्ष्य राष्ट्रीय आय को ६०% और औद्योगिक उत्पादन ६५% बढ़ाना था। कोयले का उत्पादन ५०% तेल तथा विद्युत् उत्पादन दुगना बढ़ाने का प्रस्ताव किया गया। योजना में परिमाण की अपेक्षा किस्म पर अधिक महत्व दिया गया। आधुनिकतम आविष्कारों के उपयोग और उत्पादन के यन्त्रीकरण पर बल दिया गया। एटम शक्ति के स्टेशनों का उत्पादन ५ वर्षों में २ से २.५ मि किलोवाट तक होने का अनुमान किया गया।

सारे योजनाकाल में ऐसा प्रतीत होता है कि उपभोक्ता की अवज्ञा की गई। उत्पादक वस्तुओं की ६५% वृद्धि का आयोजन किया गया। अभी भी भारी उद्योगों को महत्व दिया गया है। मशीन निर्माण में ८०% वृद्धि करने का निश्चय है, जब कि वास्तविक मजदूरी में ३०% वृद्धि [redacted] ही योजना है। पिछले कुछ वर्षों में इसके उद्योग ने साधारण से अधिक उन्नति की है। १९५५ में सामान्य उपभोक्ता की वस्तुओं, जैसे सूती वस्त्र, जूते आदि का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य के बराबर ही था। कुछ ऐसी वस्तुओं, जैसे घड़ियों, रेडियो या सीने की मशीनों का उत्पादन कुछ कम हुआ।

ऐसा प्रतीत होता था कि निकट भविष्य में एक औसत रूसी अधिक सुखपूर्वक रहने की आशा नहीं कर सकता। हां, वह इतना संतोष पा सकता था कि प्रति ५ वर्ष पश्चात्

इसके जीवनस्तर में सुधार होगा। इसके अतिरिक्त गृह निर्माण कार्यों की दुगुनी प्रगति होने के कारण उपभोक्ताओं को एक बड़े संतोष की आशा है।

उपभोक्ता की दशा में सुधार होना अधिकतर कृषि पर निर्भर करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछली योजना के अन्तर्गत निर्धारित किए गए कृषि पदार्थों के लक्ष्य पूरे नहीं हो पाये। यह इससे ज्ञात होता है कि १९६० के लिए निर्धारित अनाज का लक्ष्य १८० मिलियन टन वही है, जो पिछली योजना के लिए रखा गया था। योजना के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अब योजना बनाने वालों का अधिक यन्त्रीकरण और खादों के अधिक उपयोग पर ही विश्वास है।

अन्त में इतना ही कहना है कि यह योजना लक्ष्यों के अव्यावहारिक होने के कारण असफल रही और भविष्य की योजनाओं के लिए व्यावहारिकता लाने का प्रयास होने लगा।

सप्तवर्षीय सातवीं योजना (१९५९–१९६५)

इस योजना का मुख्य उद्देश्य जनता का जीवनस्तर उच्च करना था। योजना की अवधि ५ वर्ष से बढ़ाकर ७ वर्ष कर दी गई। इसके अन्तर्गत औद्योगिक और कृषि उत्पादन अत्यन्त तीव्र गति से बढ़ाने का प्रस्ताव था, जिससे रूस विश्व के राष्ट्रों में सबसे आगे बढ़ जाये।

इस योजना पर होने वाला सरकारी व्यय लगभग इस सारे व्यय के बराबर होगा, जितना पिछले ४० वर्षों में किया गया है। औद्योगिक विकास पर १४८८ से १५१३ गृह निर्माण पर ३७५–३८०, शिक्षा, स्वास्थ्य और सांस्कृतिक सुविधाओं पर ७७ हजार मिलियन रूबल व्यय किये जायेंगे। विभिन्न मदों पर व्यय और अतिरिक्त उत्पादन के लक्ष्य इस प्रकार हैं।

मद	व्यय (हजार मिलियन रूबल)	अतिरिक्त उत्पादन प्रतिशत (१९५८ से)
लौह व इस्पात	१००	६०
रसायन उद्योग	१००–१०५	२००
तेल व गैस	१७०–१७३	१३०–१४०
विद्युत्	१२५–१२९	७०
कोयला	७५	२० से ६०
उपभोग व खाद्य उद्योग	८०	५० से १००
कृषि	१५०	७०
रेल	११०–११५	८५–९४
गृह निर्माण	३७५–३८०	
सामाजिक कल्याण व सुरक्षा	३६०	

संयुक्त राज्य अमरीका से देश का उत्पादन आगे बढ़ाने के लिए १६०० से अधिक कारखाने खोले जायेंगे। उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन बढ़ाने के लिए मशीनों का निर्माण किया जायगा। रासायनिक उद्योग को विकसित करने के लिए २५० बड़े कारखाने खोले जायेंगे। कुल औद्योगिक उत्पादन १६५८ की अपेक्षा १६६५ में लगभग ८०% बढ़ जायेगा हल्के उद्योगों के लिए १५६ नए कारखाने स्थापित होंगे। सूती व ऊनी कपड़े तथा जूते का उत्पादन बढ़ाया जायगा।

औद्योगिक सगठन में विशिष्टीकरण तथा यन्त्रीकरण से पूर्ण सहायता ली जायगी, लागत व्यय में कमी तथा उत्पादन की किस्म में सुधार करने की भरसक चेष्टा की जायगी।

यातायात की समस्या इस योजना के अन्त तक पूर्ण रूप से हल हो जायगी। रेल, समुद्र नदी एवं मोटर यातायात के विकास के प्रयत्न किए जायेंगे और मुख्यकर वायु यातायात का विस्तृत विकास किया जायगा।

मूल्य में कमी तथा वेतन, पेन्शन व सहायता में क्रान्ति होने से श्रमिकों तथा दूसरे कर्मचारियों की वास्तविक आय में वृद्धि हो जायगी। शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, पेन्शन आदि की उचित व्यवस्था की जायगी।

कृषि-क्षेत्र में यह आशा व्यक्त की गई कि उत्पादन इतना अधिक बढ़ा लिया जायेगा कि जनता के भोजन की सभी आवश्यकताएं पूर्ण हो सकेंगी। उद्योगों के लिए पर्याप्त कच्चा माल भी उपलब्ध हो सकेगा। आधुनिकतम यन्त्रों तथा वैज्ञानिक खाद से कृषि क्षेत्रों का विकास किया जायेगा। सामूहिक फार्म (Kolkhoz) और राजकीय खेतों (Sovkhoz) की विशाल स्तर पर उन्नति की जायेगी। अनाज के उत्पादन का लक्ष्य १६०-१८० मिलियन टन रखा गया है।

पशुपालन विभाग में अत्यधिक उन्नति करने की योजना है। दूध, मांस, अण्डे और ऊन के उत्पादन को विशेष महत्व दिया गया है। चारे के उत्पादन बढ़ाने का भी विशेष प्रयत्न किया जायगा। बहुत बड़ी मात्रा में ट्रैक्टर और दूसरे वैज्ञानिक यन्त्रों का निर्माण किया जायगा। इस प्रकार योजना ने कृषि में महान् परिवर्तन करने की रूपरेखा तैयार की है।

छठी योजना १६६० तक चलने वाली थी, किन्तु १६५८ में उसको स्थगित कर दिया गया। फरवरी १६५६ में कम्युनिस्ट पार्टी के २१वें अधिवेशन में नई योजना के लक्ष्यों को स्वीकार किया गया।

आज रूस संसार का सबसे विस्तृत देश है। उसका क्षेत्रफल ८ मिलियन वर्गमील से अधिक है। वह पश्चिम में फिनलैंड से पूर्व में जापान तक और उत्तर में उत्तरी ध्रुव से एशिया के मध्य तक फैला हुआ है। उसकी जनसंख्या २०० मिलियन है, जो कि चीन और भारत के बाद विश्व में सबसे अधिक है। फिर भी वहां बेकारी का नाम निशान नहीं है।

इस प्रकार रूस आज पश्चिम को एक आर्थिक चुनौती है। एक पिछड़े हुए देश

से वह युरोप के औद्योगिक दानव के रूप में प्रकट हुआ है। उसके प्रति व्यक्ति के उत्पादन की तुलना अब पश्चिमी देशा मे की जाने लगी है। यह आशा व्यक्त की गई है कि १९६४ तक उसका प्रति व्यक्ति उत्पादन वर्तमान युरोपियन उत्पादन से अधिक हो जायेगा तथा अमेरिका के लगभग बराबर हो जायगा।

इस प्रकार रूस का आर्थिक नक्शा बदल रहा है और रूस वाले नई तात्रिक क्रान्ति लाकर विश्व की आर्थिक शक्ति को अपने पक्ष में करने में जुटे हुए हैं।

रूसी योजनाओं की विशेषताएँ (उनसे शिक्षा)

(Lessons from Russian Plans)

पूँजीवाद को छोड़ने और पूर्णतया आर्थिक योजना को अपनाने में २ समस्याएं सामने आती हैं। प्रथम तो देश की आर्थिक व्यवस्था के उचित विकास की और दूसरी कुशल प्रबन्ध की। रूसी के नेताओं के सामने मुख्य समस्या राजकीय उद्योगों के उचित प्रबन्ध की थी। इसके लिये ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है, जो योजना के विविध कार्यक्रमों को पूरा होते देखे।

रूस में योजना की दो पद्धतियां हैं—

(१) योजना केन्द्रों का समूह है। सारे देश के लिये एक केन्द्रीय संस्था है, जिसे GOSPLAN कहते हैं और विभिन्न प्रान्तों, क्षेत्रों, जिलों और बीस हजार से अधिक आबादी वाले नगरों में योजना आयोग हैं। इन केन्द्रों को किसी भी बात के बारे में पूछताछ करने का अधिकार है, परन्तु योजना की पूर्ति में दखल देने का नहीं।

(२) रूस के मन्त्रालयों के अन्तर्गत विभागीय योजना आयोग है और उनके विशेष विभाग ट्रस्ट और औद्योगिक संस्थाओं में हैं, जो कि राष्ट्रीयकरण किये गये उद्योगों का प्रबन्ध करते हैं। इन दोनों संस्थाओं में पूरा सहयोग है।

रूसी योजनाओं की एक विशेषता यह है कि उनके कार्यक्रमों की पूर्ति पर उचित नियंत्रण रखा जाता है। अच्छी से अच्छी योजना की असफलता अज्ञात कठिनाइयों और परिस्थितियों के कारण हो सकती है। अतः कोई भी अव्यवस्था का सामयिक ज्ञान होना आवश्यक हो जाता है। यही कारण है कि रूस में योजना का नियंत्रण और प्रशासन उचित रूप से हो पाता है।

योजनाओं में २ प्रकार का भेद पाया जाता है— १ आदेशात्मक और २ प्रभावित। नए विनियोग से सम्बन्धित योजनाएँ प्रभावित होती हैं। जहाँ पर योजना उपभोक्ता के चुनाव की वस्तुओं अथवा स्थानीय पूर्ति से सम्बन्धित है, वह आदेशात्मक की श्रेणी में रखी जाती और केवल सामान्य अनुमान ही लगाये जाते हैं। ऐसी योजनाओं में एक प्रकार की लोच होती है जिससे कि बाद में कुछ परिवर्तन सम्भव हो सकें।

केन्द्रीय योजना के प्रारम्भिक उद्देश्य निम्नलिखित रहते हैं —

(१) सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था के लिये जो अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तुएँ हैं, उनका समुचित उत्पादन और वितरण।

(२) योजना में दी गई प्राथमिकता की वस्तुओं के उत्पादन लक्ष्य की पूर्ति करना।

(३) राष्ट्रीय प्राथमिकता की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण वस्तुओं के उत्पादन और वितरण में कुछ स्वतन्त्रता देना।

योजनाओं के सचालन में कार्यकुशलता, निर्देशनों के केन्द्रीकरण और प्रशासन के विकेन्द्रीकरण पर ध्यान रखा जाता है। दूसरे शब्दों में उच्च प्रशासन संस्थाओं में हस्तक्षेप और आर्थिक इकाइयों के दिन प्रतिदिन के कार्यों की स्वतन्त्रता के बीच सन्तुलन रखने का प्रयास किया जाता है।

आरम्भ में S E C राजकीय आर्थिक इकाइयों का प्रशासन करती थी। बाद में यह कौंसिल विभिन्न शाखाओं में विभाजित कर दी गई। १६४० तक ऐसी ३० शाखाएँ थीं, जो राजकीय उद्योगों का प्रशासन करती थीं। लम्बे अनुभव के बाद अब उद्योगों का प्रशासन ३ समूहों में होता है —

1. All Union Industries—इनका उत्पादन सम्पूर्ण देश की राष्ट्रीय योजना के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता है। इस समूह में सम्मिलित हैं—पूजीगत वस्तुओं के निर्माण करने वाले उद्योग और खान आदि के उद्योग। इनका प्रशासन यूनियन के मन्त्रालयों द्वारा होता है।

2. Industries Under Union Republics —कुछ ऐसे बड़े पैमाने के उद्योग हैं जो सारे देश के लिये इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं। ये अधिकतर उपभोक्ता की वस्तुओं के उद्योग हैं, जिनका प्रबन्ध यूनियन रिपब्लिक के मन्त्रालय द्वारा होता है। परन्तु इनके कार्यकलापों का समन्वय ऑल यूनियन मन्त्रालय से रहता है। इनकी वस्तुओं के उत्पादन और वितरण का प्रबन्ध रिपब्लिकन अधिकारियों के हाथों में रहता है।

३. लघु उद्योग —तीसरे लघु उद्योग हैं जो स्थानीय कच्चे माल से मुख्यत उपभोक्ता की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। ये ही सबसे अधिक सुविधा विकेन्द्रीय प्रशासना की लेते हैं। इनका प्रबन्ध स्थानीय संस्थाओं द्वारा होता है और इनके कार्यों का समन्वय स्थानीय उद्योग के मन्त्रालय द्वारा होता है।

All Union और Republican उद्योग ट्रस्ट के रूप में संयुक्त होकर मन्त्रालय के अधीन होते हैं। बड़े बड़े उद्योग सीधे मन्त्रालय के अधीन हैं।

आर्थिक योजना की सफलता प्रबन्ध की एकता पर निर्भर है। यह कार्य सचालकों और मुख्य व्यक्तियों को स्वय जिम्मेवार ठहराकर किया जाता है। सबसे छोटी से लेकर बड़ी तक प्रत्येक उत्पादक इकाई में सचालक होता है, जो कि सारी इकाई की व्यवस्था का उत्तर

दायी होता है। किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति उसकी कार्यकुशलता पर निर्भर रहती है। संचालकों को पूरे अधिकार मिलते हैं, परन्तु जो कार्य सौंपे गए हैं उनको पूर्ण करने का उत्तरदायित्व भी उनके ऊपर ही है। इन सचालकों के अधिकार पूंजीवादी देशों की अपेक्षा बहुत अधिक सिमित हैं—जैसे नियुक्तियां करना, स्वतन्त्र रूप से व्यापारिक समझौते करना और समुचित जोखिम उठाना आदि। परन्तु उन पर श्रम संगठन, कम्युनिस्ट पार्टी, प्रेस और साथ साथ औरों का समुचित नियंत्रण रहता है जिससे कि वे कोई अनुचित काम करने में हिचकिचाते हैं।

उत्पादन योजना के साथ साथ ही एक वित्त योजना भी बनाई जाती है। इस योजना में उत्पादन योजना से सम्बन्धित सब प्रकार के व्ययों का ब्यौरा दिया जाता है। प्रत्येक औद्योगिक इकाई के पास वित्त के २ साधन रहते हैं–(१) स्वय की पूंजी और (२) बोधित ऋण। दोनों का सचालन GOSBANK द्वारा होता है। पहले के उपयोग पर प्रबन्धकों का पूरा अधिकार रहता है, परन्तु दूसरे का उपयोग वित्त योजना में दिये कार्यक्रमानुसार किया जाता है यदि इसमें किसी प्रकार का विचलन प्रबन्धकों की त्रुटि के कारणों से हुआ तो उसकी सूचना उपयुक्त अधिकारियों को GOS BANK द्वारा दे दी जाती है। यदि अज्ञात परिस्थितियों के कारण विचलन हुआ है तो GOSBANK वित्त योजना में सुधार के सुझाव अथवा विशेष कोष में से ऋण की व्यवस्था कर देती है। यही बैंक अल्पकालीन ऋण की सम्पूर्ण व्यवस्था करता है।

दीर्घकालीन ऋण का नियंत्रण भी इस ही प्रकार औद्योगिक बैंक (PROM BANK) द्वारा होता है। बजट से जिन संस्थाओं को धन मिलता है, उनके व्यय सम्बन्धी प्रस्तावों पर राज्य नियंत्रण मन्त्रालय द्वारा होता है।

योजना की अन्तिम सफलता–असफलता वर्ष के अन्त में इकाइयों के लाभ अथवा हानि द्वारा ज्ञात होती है। इस प्रकार योजना का वृहत् आकार होता है। औद्योगिक इकाइयों के प्रबन्धकों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और उनको नौकरी से हटाया जा सकता है अथवा दंडित भी किया जा सकता है।

७ मई, १९५७ को श्री ख्रुश्चेव ने रूस के आर्थिक विकास के प्रशासन में विकेन्द्रीकरण की घोषणा की, जो भविष्य के आर्थिक विकास में आवश्यक थी। यह विकेन्द्रीकरण की योजना रूसी कौन्सिल के प्रत्येक अंग से सम्बन्धित रहेगी। ख्रुश्चेव के अनुसार श्रमिक वर्ग के प्रयत्नों ने अपने प्राकृतिक और तांत्रिक लक्ष्यों की प्राप्ति में बड़ी उन्नति की है। देश के पास वर्तमान समय में अतुल प्राकृतिक धन और तांत्रिक ज्ञान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक योजना ने रूस को संसार का एक महान् देश बना दिया है। विश्व में यही एक ऐसा देश है, जहां बेकारी और उत्पादन का संकट कभी नहीं होता। रूस के प्रत्येक नागरिक को आर्थिक योजना के अभूतपूर्व गुण विदित हैं।

देश के धन की वृद्धि और प्रत्येक कार्यशील व्यक्ति के उच्च जीवनस्तर के सीधे सम्बन्ध योजना के द्वारा होने के कारण देश में एक समान समाजवादी योजना के प्रशासन में सब व्यक्ति उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

प्रश्न

1. Give the Salient Features of the 1st Five Year Plan of Russia.
2. What are the main characteristics of Russian Plans ! What lessons do we learn from them.

RAJASTHAN UNIVERSITY

FIRST YEAR EXAM. OF THE

THREE YEAR DEGREE COURES, 1959

Economic Development of U. K. U.S.S.R & India

Max. Marks 100

Answer Five Questions-At Least one and not more than two from each section.

Section A.

1. Explain why the Industrial Revolution made its appearance in Great Britain earlier than in other countries and trace the successive stages of industrial revolution.
2. Examine the industrial effects of the growth of machinery explaining how it has effected the social and economic conditions of the working class in England.
3. Describe some of the effects of the great improvements in transporta on during the nineteenth century in Great Britain.
4. Write short notes on any two:—
   (a) Factory laws of England.
   (b) Corn--laws.
   (c) Laissez Faire.

Section B.

5. Trace the causes which led to the decay of cottage industries in India and discuss the role of cottage industries in India's economic development.
6. Compare the moneylender with a cooprative credit society as a source of rural finance.
7. Describe the importance of Road Development in India and examine the problems of Rail-Road Co-ordination.
8. What are the causes of low yield of agricultural products in India? Mention the possible methods to remove these defects.

Section C.

9. Examine the functions of Soviet Trade Unions & discuss the position of the workers in the present Russian Economic System.
10. Write a short essay on the Soviet First Five Year Plan.
11. Examine the *'New Economic Policy' of 1921 and discuss the reaction* against it that had set in immediately following the policy.

1960

Answer five questions. At least one and not more than two from each section :—